भिन्न है। १९३१ में ही शंकर कुरुपने 'नाले'-जैसी प्रगतिशील विचारधाराकी कविताएँ लिखी थीं मगर जीवनमें वे गान्धीवादी हैं। उनकी प्रगतिशील कविताओंमें मार्क्सको उतना स्थान नहीं जितना कि मानवतावादको है। १९२३ में उनकी कविताओंका प्रथम संग्रह प्रकाशित हुआ। प्रमुख रचनाएँ ये हैं—काव्य : साहित्य कौतुक (चार भाग), सूर्यकान्ति, नवातिथि, पूजा पुष्प, निमिष चेंकतिरुवल्, मुत्तुवल्, वन गायन्, इतकुम्ल, पलिकण्टेपाट्टु, अन्तर्दाह, वेल्लिल्पखवल्, ओटक्कुषल, विश्वदर्शन, जीवन-संगीत, मून्तरुवियं ओरुपुषयुं, इलं चुण्टुवल् आदि। अनुवाद : विलास लहरी, मेघछाया, मध्यमाव्यायोग, गीतांजलि, एकोत्तरशती, इरुट्टिनुमुन्पु। नाटक : सन्ध्या। गद्य : गद्योपहार, लेखमाला। निबन्ध-संग्रह : मुत्तुं चिप्पियुं।

भारतीय ज्ञानपीठकी दिशाएँ :

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गवेषणा तथा श्रीवृद्धिका व्रत लेकर १४ फ़रवरी १९४४ में जब साहू श्री शान्तिप्रसाद जैनने इस संस्थाकी स्थापना की थी तब भी उनके समक्ष संकल्परूपमें जो था वह यही कि ज्ञानपीठ ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्रीका अनुसन्धान तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्यका निर्माण करेगी। राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला, लोकोदय ग्रन्थमाला, 'ज्ञानोदय', 'ज्ञानपीठ पत्रिका', भारतीय ज्ञानपीठके विकास-चरण हैं। सांस्कृतिक क्षेत्रमें भारतकी भावनात्मक एकताको सुदृढ़ करनेमें भी भारतीय ज्ञानपीठ निरन्तर जागरूक रहा है।

ज्ञानपीठ पुरस्कारका स्वरूप :

पुरस्कारके प्रसंगमें यह स्पष्ट कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि यों तो अलग-अलग भारतीय भाषाकी सर्वश्रेष्ठ कृतिके लिए अलग-अलग प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार थे ही, किन्तु ऐसा कोई पुरस्कार नहीं था

ज्ञानपीठ-पुरस्कार-द्वारा भारतीय प्रतिमानोंकी प्रतिष्ठा

एरणाकुलम्। मलयालम पत्र 'तिलकम्'-द्वारा आयोजित कुरुप-अभिनन्दन-समारोहमें अज्ञेयजीने कहा : 'ज्ञानपीठ-पुरस्कारका महत्त्व इस बातमें है कि वह केवल कृति साहित्यपर दिया जायेगा, शोध अथवा ज्ञानके साहित्यपर नहीं। दूसरे वह इसलिए भी महत्त्वका है कि वह सभी भारतीय भाषाओंको एक समान साहित्यिक मानदण्डसे मापनेका प्रयत्न करता है, अलग-अलग भाषाओंको अलग-अलग प्रकारकी रियायतें नहीं देता। ज्ञानपीठ मुख्यतया हिन्दीकी और हिन्दी-क्षेत्रकी संस्था है इसलिए उसके द्वारा दिया गया यह पुरस्कार उस दायित्वके निर्वाहमें पूर्णतया योग देता है जो इतिहासने हिन्दीको सौंपा है। मध्य देशकी भाषा हिन्दी भारतीय संस्कृतिकी सभी धाराओंकी वाहिका रही है और सभी अंचलोंकी प्रवृत्तियाँ हिन्दीमेंसे छनकर दूसरे अंचलोंमें पहुँचती रही हैं। सभी भारतीय भाषाओंको एक ही मंचपर लाने और इस प्रकार भारतीय प्रतिमानोंकी प्रतिष्ठा करनेका काम हिन्दीके द्वारा सम्पन्न हो, यह सर्वथा उचित है। अन्य भाषाओंकी उन्नतिमें हिन्दीका यह योग हिन्दीको भी सम्पन्नतर बनायेगा।'

'जि०' : एक नदी....

"जि० शंकर कुरुप विकास और प्रगतिके कवि हैं। वे तालाबकी तरह कभी एक जगह नहीं ठहरे, बल्कि नदीकी तरह नये-नये मैदानोंमें बहते रहे। ऐसी नदीकी तरह जो हर मैदानमें अपनी चौड़ाई तथा गहराई बढ़ाती चलती है। कुछ लोग तो उन्हें 'कवियोंका कवि' भी कहते हैं। असलमें उन्हें 'मनुष्यका कवि' कहना उचित होगा, लेकिन वे पूर्व पाषाण-कालके मनुष्य नहीं वरन् बीसवीं सदीके मनुष्यके कवि हैं, जिसने अपनी कहानी सभी क्षेत्रोंमें फिरसे लिखी है और जो अन्तरिक्ष-युगमें पदार्पण कर चुका है।"

—*वेन्मी वासु पिल्लई*

जो देशकी सारी भाषाओंकी कृतियोंमें-से चुनी हुई किसी एक श्रेष्ठतम साहित्यिक कृतिके लिए हो। ऐसे पुरस्कारकी स्थापनाको एक राष्ट्रीय आवश्यकताके रूपमें भी अनुभव कर ज्ञानपीठके संस्थापकोंने यह योजना प्रवर्तित की। साथ ही इसमें यह भी ध्यानमें रखा गया कि पुरस्कारकी राशि राष्ट्रीय गौरव तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डोंके अनुरूप भी हो। पुरस्कारकी प्रक्रिया यह है कि प्रतिवर्ष देश-भरके अधिकारी विद्वानों, समीक्षकों और प्रबुद्ध पाठकोंके पास प्रस्ताव-पत्र भेजकर श्रेष्ठ पुस्तकोंके विषयमें प्रस्ताव आमन्त्रित किये जाते हैं, तदुपरान्त प्रत्येक भाषाके लिए गठित परामर्श-समितिके समक्ष ये प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते हैं। ये ही समितियाँ प्राप्त प्रस्तावोंका आकलन, निरीक्षण एवं मूल्यांकन करके तथा स्वतन्त्र रूपसे विचार करके सर्वोत्तम तथा सर्वोपरि केवल एक पुस्तकका समर्थन सर्वसम्मति अथवा सदस्योंके दो-तिहाई बहुमतसे करती हैं और सुविचारित मूल्यांकनके उपरान्त एक-एक भाषा-वर्गसे एक-एक कृति चुन लेती है। इस प्रकार जो पाँच या छह पुस्तकें छनकर ऊपर आती हैं उनका पारस्परिक मूल्यांकन समीक्षकों-द्वारा होता है। इसके उपरान्त प्रवर-परिषद् विभिन्न परामर्श-समितियोंसे प्राप्त प्रस्तावोंका निरीक्षण तथा मूल्यांकन करती है और आवश्यक होनेपर उनके प्रतिनिधियोंका साक्ष्य लेकर प्रस्तुत व्याख्याओंपर विचार करती है।

प्रथम पुरस्कारकी अन्तिम बैठक :

प्रथम पुरस्कारके सम्बन्धमें हुई परिषद्की अन्तिम बैठकमें जिन प्रतिनिधियों तथा अनुवादकोंके साक्ष्य लिये गये उनके नाम हैं—डॉ० सुकुमार सेन, (बँगला परामर्श-समितिके संयोजक), श्री हंसकुमार तिवारी (काज़ी नजरुल इस्लामकी बंगला काव्यकृति 'अग्नि-वीणा'के अनुवादक), प्रिंसिपल सीतारमैया (कन्नड़ परामर्श-समितिके संयोजकके प्रतिनिधि) डॉ० सरोजिनी महिषी (डी० वी० गुण्डप्पाकी कन्नड़ काव्यकृति 'मंकु तिम्मन कग्ग' की हिन्दी अनुवादिका) श्री एन० वी० कृष्णवारियर (मलयालम् परामर्श-समितिके संयोजक), कुमारी जॉन (जि० शंकर कुरुपकी मलयाली काव्यकृति 'ओटक्कुष़ल'की सह-अनुवादिका) तथा प्रो० के० लक्ष्मीरंजनम् (तेलुगु परामर्श-समितिके संयोजक)। इस

[शेष पृष्ठ १६६ पर]

फ़रवरी
१९६६
अंक : ८
वर्ष : १७

■ श्रद्धांजलि :
◉ लालबहादुर शास्त्री : लक्ष्मीचन्द्र जैन २
■ ज्ञानपीठ-समाचार :
◉ कवि शंकर कुरुपकी 'बाँसुरी' सम्मानित ७

परिशिष्ट • कथा-मंच : विशेष परिशिष्ट • कथा-मंच

■ कथा-मंच :
◉ सातवाँ दशक : ठीक-ठीक मूल्यांकन : रमेश बक्षी
■ कहानियाँ :
◉ बड़ा कौन : वृन्दावनलाल वर्मा १७
◉ जंक्शन : गजानन माधव मुक्तिबोध २०
◉ एक ठहरा हुआ चाक़ू : मोहन राकेश २९
◉ मुक्ति : शैलेश मटियानी ३३
◉ उद्घाटन गोष्ठी : शरद् जोशी ४५
◉ दिलचस्पी : ज्ञानरंजन ५१
◉ बेतरतीब कहानी : ममता कालिया ६१
◉ कलसे पहले : गंगाप्रसाद विमल ६५
◉ चरित्रहीन : सुधा अरोड़ा ७१
■ कथा-समारोह
◉ पहली गोष्ठी : सवाल जीवनदृष्टिका है··· : अध्यक्ष : जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, कमलेश्वर। वक्ता : सीताराम सेकसरिया, जगमोहनदास मूँधड़ा, लक्ष्मीचन्द्र जैन ८३
◉ दूसरी गोष्ठी : समकालीन बोधमें-से जन्मी जीवनदृष्टि···· ? : अध्यक्ष : अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, हरिशंकर परसाई। वक्ता : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, गंगाप्रसाद विमल, श्रीकान्त वर्मा ९२
◉ तीसरी गोष्ठी : उपलब्धियाँ, उभरती दिशाएँ और आधुनिकताके सन्दर्भ···· : अध्यक्ष : डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा, डॉ० देवीशंकर अवस्थी, डॉ० शिवप्रसाद सिंह। वक्ता : धनंजय वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह १०१
◉ चौथी गोष्ठी : समकालीन बोध और दायित्व : कथा-चिन्तनकी मज़बूत ज़मीन···· : अध्यक्ष : मोहन राकेश, भीष्म साहनी, विमल मित्र। वक्ता : शरद जोशी, रमेश बक्षी, राजेन्द्र अवस्थी, कमलेश्वर, श्रीकान्त वर्मा, देवीशंकर अवस्थी, दूधनाथ सिंह, जैनेन्द्रकुमार १२२

मुखपृष्ठ :
सन्तुदास गुप्त

■

प्रथम पृष्ठ :
स्व० लालबहादुर शास्त्रीकी हस्तलिपि—'दिनमान' के सौजन्यसे

■

- पाँचवीं गोष्ठी : कथा-शिल्प : प्रयोगकी प्रक्रियाका प्रयोग···· : अध्यक्ष : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव, श्रीकान्त वर्मा। वक्ता : शैलेश मटियानी, भगवतीचरण वर्मा, सुदर्शन चोपड़ा, ममता कालिया, शरद जोशी, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, धनंजय वर्मा, रमेश बक्षी, हरिशंकर परसाई, गंगाप्रसाद विमल १५५
- छठी गोष्ठी : कथाकार और पाठक : जिज्ञासाएँ एवं अपेक्षाएँ—छोटे-छोटे कटघरे···· : अध्यक्ष : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, हरिशंकर परसाई, श्रीमती मन्नू भण्डारी। सप्रश्न वक्ता : डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, कुन्था जैन, कृष्णाचार्य, किरण जैन, चन्द्रदेव सिंह आदि। उत्तर : कमलेश्वर, रमेश बक्षी, शैलेश मटियानी, रवीन्द्र कालिया, शिवप्रसाद सिंह, श्रीकान्त वर्मा, राजेन्द्र अवस्थी, शरद जोशी, ममता कालिया, जैनेन्द्रकुमार १६७
- सातवीं गोष्ठी : समापन : जीवन्त मंचकी प्रतिष्ठा···· : अध्यक्ष : भँवरमल सिंघी, कल्याणमल लोढ़ा, लक्ष्मीचन्द्र जैन। वक्ता : वृन्दावनलाल वर्मा, विष्णुकान्त शास्त्री, अक्षयचन्द्र शर्मा, रमेश बक्षी, चन्द्रदेव सिंह, भीमसेन त्यागी, परमानन्द चूड़ीवाल, सीताराम सेकसरिया १७२
- स्मृति : डॉ० देवीशंकर अवस्थी १८१
- कथा-समारोह : कुछ और बिन्दु : १८३
- नारी : खण्डित होती कथा-मूर्ति : (प्रस्तुतिः कुन्था जैन) १८५
- कथा-समारोह : इम्प्रेशन्स परसाईके १८७
- अनुक्रमणिका : (प्रस्तोता : रंगनाथ राकेश) १९१

■ छाया-चित्र :

कथा-समारोह ८३, जैनेन्द्रकुमार ८५, भगवतीचरण वर्मा ८५, वृन्दावनलाल वर्मा ८८, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ८८, विमल मित्र ९४, अमृतलाल नागर ९४, श्रीकान्त वर्मा, देवीशंकर अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा, शिवप्रसाद सिंह १०२, मोहन राकेश १०७, राजेन्द्र यादव १०७, गंगाप्रसाद विमल, धनंजय वर्मा ११३, लक्ष्मीनारायण लाल, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी ११७, कमलेश्वर १२३, श्रीकान्त वर्मा १२३, भीष्म साहनी १२६, शरद जोशी १२९, रमेश बक्षी १३४, दूधनाथ सिंह १३४, रवीन्द्र कालिया १४१, ममता कालिया १४१, कथा-समारोह-के विशेष श्रोता १६७, सीताराम सेकसरिया, जगमोहनदास मूँधड़ा, परमानन्द चूड़ीवाल, भँवरमल सिंघी १७३, धनंजय वर्मा, हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी, लक्ष्मीनारायण लाल, कमलेश्वर १८७

ज्ञानोदयका यह 'कथा-मंच : विशेष परिशिष्ट' नयी पीढ़ीके सुलझे हुए समीक्षक स्वर्गीय डॉ० देवीशंकर अवस्थीकी ताज़ी स्मृति और समर्थ आवाज़से भीगा हुआ है (पृष्ठ १८१)। भारतीय ज्ञानपीठ और हिन्दीके सारे कथा-कारोंकी ओरसे उन्हें श्रद्धांजलि इस मंचके रूपमें।

—सम्पादक

क
था
मं
च

सातवाँ दशक :
ठीक-ठीक मूल्यांकन

····इस सन्दर्भमें किसीका नाम लेनेकी ज़रूरत नहीं रह गयी है।····

यह स्पष्ट है कि व्यक्तिके मर जानेसे कहानी नहीं मरती है। यह प्रश्न शाश्वत साहित्यका नहीं है, बदलते हुए समयकी धुरीपर उसके साथ-साथ किसी दर्शनके टिक पाने और चलते हुए चक्रपर-से असामर्थ्यके कारण हठात् उसके फिंक जानेका है। यदि कहानी अपने अक्षांश-देशान्तरपर गुज़र रहे मौसमको नकारती है और छतपर घूमते पंखेकी स्पीडके अनुसार चलती है या कमरेमें जीवित रह पानेकी सम्भावनाओंके बजाय कमरेकी नाप-जोख देनेमें लगी रहती है या अनायासतासे भागकर किसी-न-किसी कोटिकी आत्यन्तिकतामें सिर ढँक लेती है—तब वह अपने पिताके जीवित रहते भी मर जाती है। फिर कहानी लिखी नहीं जाती, ढोयी जाती है। यहीं दो तरहकी बातें अलग हो जाती हैं : जीवित रहने और जीवित बने रहनेका संघर्ष तथा कहानीको ढोते हुए स्वयंको जीवित सिद्ध करनेका आग्रह। आजका सही कथाकार इस बातसे चिन्तित नहीं है कि वह क्लासिक साहित्यकारोंकी तरह अजर-अमर कैसे हो जाये, इस प्रश्नमें एक ख़ास क़िस्मकी मानसिकतावाले लोग उलझ सकते हैं। इसमें उलझनेसे कुछ फ़ार्मूले ही हाथ लगते हैं; जिनके आधारपर कथाका छठा तत्त्व 'उद्देश्य' बना है। व्यक्तिके मर

जाने पर भी जो कहानी ज़िन्दा रहती है वह जीवनदृष्टिसे अधिक जीवदर्शनके कारण ज़िन्दा रहती है जिसके बलपर व्यक्ति अपने अस्तित्वके संकट झेलता है। अस्तित्व-संकट झेलनेके लिए जो जीवनदर्शन उभरता है वह कई स्वीकृतियों-अस्वीकृतियों, रुचियों-अरुचियोंकी पकड-छोड़से शक्ल पाता है। वह दिन-भरकी मज़दूरीके बाद मिले वेतनकी तरह महत्त्वपूर्ण होता है। आया हुआ अस्तित्व-संकट किसी भी रूपका हो सकता है, यह व्यक्तिपर निर्भर करता है कि वह उसे कैसे झेलता है? यह संकट हमेशा हर व्यक्तिके सामने आता है, हज़ार साल पहले भी आता था और आज भी आता है। लेकिन इस संकटसे खटने, इससे बच निकलने, इससे भिड़ जाने, इसे बनाये रखने और इसका गला घोंट देनेके साम-दाम-दण्ड-भेद ये ही तरीक़े नहीं हैं, हज़ार और तरीक़े हैं। जो व्यक्ति जैसा तरीक़ा अपनायेगा वह उसी रूपमें एक्सपोज़ होगा। हाँ, उतरी हुई तसवीरको ओवर-डेवलप करवाया जा सकता है या रिटॅच भी हो सकती है वह····, लेकिन यह प्रक्रिया उसे दुबारा एक्सपोज़ करेगी—यानी तसवीर बिगड़ ही नहीं सकती, हाथसे चली भी जा सकती है। एक अति प्रचलित सामाजिकता यह है कि आदमी कैरियरिस्ट बनता चला जाये, इसके बहुत आसान और लाभप्रद तरीक़े होते हैं। इसमें सीढ़ियोंसे चढ़ना नहीं होता, चाहे जितनी ऊँचाई तक लिफ़्टसे पहुँचा जा सकता है। इस व्यावसायिक व्यवस्था-पद्धतिको साहित्यमें भी अपना-कर लाभ उठाया जा सकता है, इससे आदमीका हाथ पारस हो जाता है, जिसे छू दे वही कंचन हो जाये—लेकिन अपने व्यक्तित्वको अनिवार्य रूपसे इसमें खो देना पड़ता है, एक 'सफलता'के पीछे। यह इस तरह निर्मित जीवन-दर्शन ढालकी तरह होता है। पीठ इतनी सख़्त हो जाती है इससे कि आप अपने हाथ-पैर-मुँहको सिकोड़कर उस ढालके अन्दर ही आरामसे गहरी नींद सो सकते हैं। यहाँतक होता है कि आदमी मर जाता है, पीठ ज़िन्दा रह जाती है। लेकिन जिसे पीठसे अधिक अपनी छाती प्रिय है उसके लिए यही जीवनदर्शन शस्त्र हो जाता है। नगर, नौकरी, सिद्धान्त, स्वार्थ, प्रेम, पैसा···हर युद्धको वह अपने ईमानदार शस्त्रसे निबटाता चलता है। जब ढाल टूटती है तो आदमी निढाल होकर भिद जाता है और जब शस्त्र टूटता है तो आदमी सारी शक्ति-सहित भिड़ जाता है, फिर भले ही उसे रथके टूटे हुए पहियेसे ही क्यों न लड़ना पड़े····या लड़ते-लड़ते दम ही क्यों न तोड़ देना पड़े। संघर्षमें आकण्ठ डूबा यही व्यक्ति अगर कथाकार है तो उसका संकट बोलेगा, वह क़लमपर चढ़ आयेगा····।

वह अगर प्रतिबद्ध है तो तूफ़ानवाले रास्तेपर खड़ा रहनेके लिए और प्रतिश्रुत है तो अपने अस्तित्व-संकटके प्रति।....यूँ भी लिखनेकी विधियाँ, जीनेकी विधियोंमें-से ही निकलती हैं, सोचनेकी विधियोंमें-से नहीं।...इस सृजेताकी शक्लपर सम-कालीन क्षणोंकी बिन्दु-बिन्दु शिकन बनी है और उसे अलग देखा जा सकता है। यहाँ वस्त्रोंपर पड़ी सिलवटों और चेहरोंपर उलझती शिकनोंका अन्तर साफ़ हो जाता है।

गुज़रते हुए इन कथाकारोंको एक-एक दशकके अन्तरालमें देखें तो यह लगेगा कि कुछ व्यक्तिगत कारणोंसे समयके साथ नहीं चल पा रहे हैं, कुछ खेमे बनाकर बातें करनेमें लग गये हैं, कुछ अपनी विशेष तरहकी आत्मकेन्द्रित चालके कारण लगातार चलकर भी एक ही जगहको नाप रहे हैं, कुछ रास्तेमें ही जमकर बैठ गये हैं...लेकिन कुछ हैं; जिन्हें केवल चलना है—वे भागे हुए हैं और चल रहे हैं तो चल रहे हैं और कहीं उन्हें पहुँचना है इसलिए चल रहे हैं तो भी चल रहे हैं। हर कालमें नये लोग तारीख़ोंको रौंदते हुए चलते हैं लेकिन इस समय नयी पीढ़ीके साथ एक ग्रहयोग और जुड़ गया है। वह है : हर तरहके संक्रमणका योग--वह नैतिक है, सामाजिक है, राजनैतिक है, पारिवारिक है....। इस संक्र-मणके कारण मार दुहरी हो गयी है और अस्तित्वका संकट-बोध सानपर चढ़ गया है। यही नहीं, रास्ता या तो खण्डहरोंके बीचसे बना हुआ है या फिर रूढ़ हो गया है। अनेक लोग गुज़रे तो एक बिन्दु तक पगडण्डी पुख़्ता होती जाती है फिर एक ऐसा बिन्दु आता है जहाँसे वही पुराना रास्ता उखड़ने लगता है....। ईंटोंकी तरह पके हुए कथानक, मोज़ेककी तरह ख़ूबसूरत चरित, शटलकॉककी तरह लपकते हुए वार्तालाप, पेस्ट्रीकी तरह चित्रायित शैली, टीकोज़ीसे ढँका हुआ वातावरण.... देखें तो लगेगा--ऊबसे या एकरसतासे या अनावश्यकतासे इन सबके प्रति विरक्ति जनमी है। जहाँ किंकर्तव्य-विमूढ़ हो सकते थे, वहाँ यह भाव आ गया है कि क्या नहीं कर गुज़रे ?....इसीसे नये रास्ते खोजे जाने लगे....और सारी कहानी अन्वेषणधर्मा हो गयी। एक बार फिर वह अनुष्टुप्‌की विकलताको छूने लगी।.... अभिव्यक्तिकी इस छटपटाहटने बहुत तोड़-फोड़ की है—अलंकार, अनुप्रास, भाषायी रूमान सब ऐसे टूटे कि शैलीकी बात करना भारी लगने लगा। अबतक खड़ी बोली ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणोंके चमत्कार ही प्राप्त करती रही थी, गद्यकी सही भाषाका आविष्कार यहीं कहीं शुरू हुआ है।....

इस बिन्दुपर, सातवें दशकके पुलपर, खड़ी हुई हिन्दी कहानीने सारा 'कहानीपन' खो दिया है। उससे मनोरंजन नहीं होता, उससे समय नहीं कटता,...उसे पढ़ना पड़ता है....वह आम पाठकसे दूर होती जा रही है, उसमें न कथावस्तु है, न पात्र-पात्री, न...। वह बे-तरतीब और चरित्रहीन हो गयी है, उसमें दिलचस्पी कोई ले तो कैसे ? वह टूटी हुई, खण्डित, बदशक्ल होती जा रही है लेकिन विकासकी सार्थक प्रक्रियामें-से गुज़रनेके कारण यदि वह टूटी है तो यह उसके टूटनेकी शुरूआत है। और इस शुरूआतपर सापेक्ष मन:स्थितिवाले कुछ कथाकार खड़े हैं...।

यहीं, पीढ़ी और पुराने-नयेकी बहस बेमानी हो जाती है, शास्त्रीय-अशास्त्रीय झगड़े अलग रखे रह जाते हैं और ऐसा लग सकता है कि वाक़ई कथा-चर्चा हो रही है। ऐतिहासिकताका आग्रह भी एक तरहसे एक समूची पीढ़ीको नकारनेकी जगह टाल देना होगा—आग्रह निकषका हो, खुले निकषका, कि किस जीवन-दर्शनके परिप्रेक्ष्यमें किसने-कैसे अस्तित्वके संकटको झेला है और किस विधि-निषेध-को लेकर वह संक्रमणमें-से गुज़र रहा है, किस अनास्था और निराशामें उसकी भाषा जम गयी है और संघर्षके किस हेमरेजसे वह पिघल उठा है, यह भी कि उसकी आधुनिकता समकालीनताको साथ लेकर चलती है या वह समकालीन होनेके कारण आधुनिक भी है....?

कुछ पुराने नाम, कुछ उनके बादके नाम, कुछ और बादके नाम और कुछ ताज़े नाम उँगलियोंपर गिने जा सकते हैं....।

लेकिन तलाश-निकषकी थी और इस सन्दर्भमें किसीका नाम लेनेकी ज़रूरत नहीं रह गयी है।

—रमेश बक्षी

बड़ा कौन ?

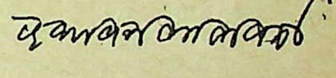

[वृन्दावनलाल वर्मा
पहली रचना : १९०५]

मूलस्थान (मुलतान) से काफ़ी दूर एक घने जंगलमें छोटा-सा खुला मैदान भी था। एक वृक्षके नीचे लँगोटी लगाये एक जटाजूटधारी—साधू-सन्त—आँखें मूँदे, आसन लगाये, समकाय, ध्यान-मग्न थे।

थोड़ी दूरीसे घोड़ोंकी टापोंकी ध्वनि आयी, परन्तु उन्होंने आँखें नहीं खोलीं। एक व्यक्ति धीरे-धीरे टहलता उनके पास आकर खड़ा हो गया।

ईसासे लगभग तीन सौ इक्कीस वर्ष पहलेकी बात होगी, आगन्तुक उस समयकी भाषाके टूटे-फूटे शब्दोंमें बोला—"मैं आया हूँ।"

साधूने आँखें खोलीं। आँखोंमें बड़ा तेज ! आगन्तुक उनके सफ़ेद जटा-जूटोंसे अनुमान लगा रहा था कि आँखें भी कुछ यों ही-सी होंगी।

साधूने प्रश्न किया—"कौन हो ?"

"मैं सिकन्दरका सेनानायक हूँ। उन्होंने आपके पास भेजा है।"

सेनानायक यूनानी युद्ध-वेशभूषामें था, टोप लगाये था।

"क्यों ? क्या बात है ?" साधू बोले।

यूनानी सेनानायकने कहा—"जानते हो न हमारे सिकन्दर महानको ?

उन्होंने सारे राज्योंको जीत लिया है। आपसे भेंट करना चाहते हैं। आपको बुलाया है। आपका नाम कण्व* है न ?"

"ह ! ह ! ह ! हाँ। नाम मेरा यही है। अपने सिकन्दरसे कहना कि संसार बहुत बड़ा है, और अभी उसने सामना भारतके यौधेयों और मालवोंसे नहीं किया है। हमारे देशके ये गणतन्त्री तुम्हारे सिकन्दरके छक्के छुड़ा देंगे। जाओ यहाँसे। मैं तो यहीं अचल रहता हूँ।"

ग्रीक सेनानायक आश्चर्यमें डूबा-सा वहाँसे चला गया।

■

जाड़ेकी ऋतु आ गयी थी। उसी जंगलके उस खुले मैदानके वृक्षके नीचे वही साधू—कण्व—आँखें मूँदे ध्यान-मग्न थे। सवेरेका समय था। सूर्यकी कोमल रश्मियाँ उनके चेहरेको दमका रही थीं, आसन लगाये समकाय बैठे थे। दूरसे घोड़ोंकी टापोंका स्वर सुनाई पड़ा, परन्तु उन्होंने आँखें नहीं खोलीं। फिर कुछ दूरीपर टापोंका स्वर बन्द हो गया और दो व्यक्ति साधूके पास आकर खड़े हो गये। एक उनके सामने और दूसरा बग़लमें। सामनेवाला था तो ग्रीक योधाके वेशमें, परन्तु वस्त्र ज़रतारीके थे, रवि-रश्मियोंमें चमक रहे थे।

बग़लवालेने कहा—"कण्वजी, हमारे राजाधिराज, प्रधान सेनापति सिकन्दर महान पधारे हैं। बात करिए।"

जो व्यक्ति सामने खड़ा था, वह सिकन्दर था, बाद का 'अलेक्ज़ेण्डर दि ग्रेट'।

कण्वने आँखें खोलीं, सिकन्दरकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि की।

सिकन्दरने प्रसन्नता प्रकट की—"मैं कोरा योधा ही नहीं हूँ, सब तरहके लोगोंके सम्पर्कमें आता रहा हूँ। तुमसे ख़ुश हूँ, इसीलिए ख़ुद चला आया। माँगो, क्या चाहते हो ? जो माँगोगे दूँगा, मेरे पास सब कुछ है।"

कण्व मुसकराये और बोले—"तुमसे मुझे केवल इतना ही चाहिए कि तुम मेरी धूप छोड़कर हट जाओ।"

सिकन्दर हट गया तो कण्वने आँखें मूँद लीं। सिकन्दर का साथी सेनानायक कुछ क्षुब्ध हुआ, परन्तु सिकन्दरने संकेतसे उसे वर्जित कर दिया। वे दोनों, और सब, अचरजमें डूबते-उतराते चले गये। सिकन्दर सोच रहा था कि यह भारत अजीब देश है—यह एक ऐसा है जिसे दुनियासे कोई वास्ता नहीं, फिर भी अपने देशके बारेमें हमारे सेनानायकसे कहता था—"हमारे यौधेयों और मालवोंका सामना तो करके देखो !"

■

यौधेयोंके जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उनपर ये शब्द अंकित हैं—'जयमन्त्रधारी यौधेयाः'—यौधेय अजेय हैं। और मालवोंके जो सिक्के मिले हैं उनपर अंकित हैं—'मालवानामजयः'। सिकन्दर इनसे टक्कर नहीं ले सका और मुलतान होकर लौट पड़ा। मुलतानकी लड़ाईमें घायल हो गया था। यूनानको भूमि-मार्गसे जानेका संकल्प उसने त्याग दिया, दस हज़ार

* ग्रीक-इतिहासमें नाम Kannes लिखा है।

नावें तैयार करवायीं और सिन्ध नदी होकर बाबुल (बेबीलोन) जानेकी योजना बनायी। नावोंसे यात्रा करते-करते सिन्धके शिवियोंसे मुठभेड़ हो गयी। यूनानी इतिहासकारोंने लिखा है कि शिवि (ये भी गणतन्त्रवाले थे) सिकन्दरसे हार गये। परन्तु जो कुछ हुआ उससे निष्कर्ष यह निकलता है कि शिवि जीते थे।

सिकन्दरने शिवियोंके मुखियोंका स्वागत-समारोह किया था, उन्हें बढ़िया कुरसियोंपर बिठलाया और हार पहनाये थे। सिकन्दरने वहीं यह विनय की—"आप लोग जो कुछ चाहें मैं अवश्य भेंट करूँगा।"

मुखियोंने सिकन्दरसे कहा—"आपने दस ब्राह्मण क़ैद कर रखे हैं, इन्हें छोड़ दीजिए, हमें और कुछ नहीं चाहिए।"

इन दस क़ैदियोंमें एक विष्णुगुप्त चाणक्य भी थे। इन्होंने और चन्द्रगुप्तने पेशावर (पहलेका पुष्पपुर) के निकट सिकन्दरका सामना करनेके लिए वहाँकी जनताको संगठित किया था, जब सिकन्दरने भारतपर आक्रमण किया। सिकन्दरकी सेना बहुत बड़ी थी और स्वतन्त्रता-संग्रामके ये योद्धा अल्पसंख्यक, सिकन्दरके बढ़ावको न रोक सके। सिकन्दरने इनके नेताओंको पकड़कर क़ैद कर लिया—केवल चन्द्रगुप्त क़ैदसे निकल भागा। बाक़ी जो क़ैदमें पड़ गये वे ये दस ब्राह्मण थे जिनमें एक विष्णुगुप्त चाणक्य। सिकन्दरने शिवियोंके मुखियोंकी माँग स्वीकार कर ली, परन्तु एक शर्त लगा दी—'मेरे दस प्रश्नोंका उत्तर दे दें ये लोग तो इन्हें अवश्य छोड़ दूँगा।"

सिकन्दरने प्रश्न किये, क़ैदियोंके अग्रणीने—सम्भवतः चाणक्यने—उत्तर दिया। उन दस प्रश्नोंमें तीन बहुत महत्त्वके हैं। पहला था—"मरे हुओंकी संख्या अधिक या जीवितोंकी ?"

उत्तर—"जीवितोंकी, क्योंकि संसारके मरोंकी गिनती हो ही नहीं सकती।"

दूसरा—"जीवन बड़ा या मृत्यु ?"

उत्तर—"जब गौरवके साथ मनुष्य रह सके तबतक जीवन बड़ा, गौरवके साथ न रह सके तब मौत अच्छी।"

अन्तिम प्रश्न—"तुम लोगोंने हमारे खिलाफ़ विद्रोहका संगठन क्यों किया ?"

उत्तर—"क्योंकि हम अपने देशकी भूमिपर परदेशी आक्रमणकारीका पैर नहीं देख सकते।"

सिकन्दरने उन दसोंको छोड़ दिया। उस समय जो कुछ कहा गया था, उसका विवरण प्लुटार्ककी विख्यात पुस्तक 'लाइव्स ऑव रोमन्स एण्ड ग्रीक्स' में है, जो ७८वीं ईसवीमें—आजसे लगभग १९०० वर्ष पहले लिखी गयी थी। जो कुछ तब कहा गया था वह आजके युगके लिए भी लागू है—जबतक गौरवके साथ रहें तबतक जीवन बड़ा अन्यथा मौत बड़ी, और, हम अपने देशकी भूमिपर परदेशी आक्रमणकारीका पैर नहीं देख सकते।

ऐसी स्थितिमें हथियारका उठाना, चलाना और शत्रुका विध्वंस करना अनिवार्य है, अपरिहार्य है, हमारा कर्त्तव्य और धर्म है।

■ ■

जं
क्श
न

गजानन माधव मुक्तिबोध

[गजानन माधव मुक्तिबोध
पहली रचना : १९४०]

रेलवे स्टेशन, लम्बा और सूना ! कड़ाकेकी सर्दी ! मैं ओवरकोट पहने हुए इतमीनानसे सिगरेट पीता हुआ घूम रहा हूँ।

मुझे इस स्टेशनपर अभी पाँच घण्टे रुकना है ! गाड़ी रातके साढ़े बारह बजे आयेगी।

रुकना, रुकना, रुकना ! रुकते-रुकते चलना ! अजीब मनहूसियत है !

प्लेटफ़ॉर्मके पाससे गुज़रनेवाली लोहेकी पटरियाँ सूनी हैं। शण्टिंग भी नहीं है। पटरियोंके उसपार, थोड़ी ही दूरीपर रेलवेका अहाता है, अहातेके उस पार सड़क है। शामके छह बजे ही सड़कपर और उससे लगे हुए मकानोंमें बिजलियाँ झिलमिलाने लगी हैं !

उदास और मटमैली शाम। एक बार टी-स्टॉलपर जाकर चाय पी आया हूँ। फिर कहाँ जाऊँ। शहरमें जाकर भोजन कर आऊँ ? लेकिन, यहाँ सामान कौन देखेगा ? आस-पास बैठे हुए मुसाफ़िर फटी चादरों और धोतियोंको ओढ़े हुए, सिमटे-सिमटे, ठिठुरे-ठिठुरे चुपचाप बैठे हैं। इनके भरोसे सामान कैसे लगाया जाये ! कोई भी उसमें-से कुछ उठाकर चम्पत हो सकता है !

टी-स्टॉलकी तरफ़ नज़र डालता हूँ। इक्के-दुक्के मुसाफ़िर घुटने छातीसे चिपकाये बैठे हुए दिखाई दे रहे हैं। गरम ओवरकोट पहनकर चलनेवाला सिर्फ़ मैं हूँ, मैं।

अगर कोई भी मुझे उस वक़्त देखता तो पाता कि मैं कितने इतमीनान और आत्म-विश्वासके साथ क़दम बढ़ा रहा हूँ। इतनी शान मुझे पहले कभी महसूस नहीं हुई थी। यह बात अलग है कि गरम ओवरकोट उधार लिया हुआ है। राजनाँदगाँवसे जबलपुर जाते समय एक मित्रने कृपापूर्वक उसे प्रदान किया था। इसमें सन्देह नहीं कि समाजमें अगर अच्छे आदमी न रहें, तो वह एक क्षण न चले।

सिगरेट पीते हुए मैं मुसाफ़िरखानेकी तरफ़ देखता हूँ। वहाँ आदमी नहीं, आदमी-नुमा गन्दा सामान इधर-उधर बिखेर दिया गया है। उनकी तुलनामें सचमुच मैं कितना शानदार हूँ।

अनजाने ही अकड़कर चलने लगता हूँ, और किसीको ताव बतानेकी, किसीपर रोब झाड़नेकी तबियत होती है। इन सब टूटे हुए अक्षर (प्रेस टाइप)-जैसे लोगोंके बीच गुज़र कर अपनेको काफ़ी ऊँचा और प्रभावशाली समझने लगता हूँ। सच कहता हूँ, इस समय मेरे पास पैसे भी हैं। अगर कोई भिखारी इस समय आता तो मैं अवश्य ही उसे कुछ प्रदान करता। लेकिन, भिखारी बेवक़ूफ़ थोड़े ही था, जो वहाँ आये; वहाँ तो सभी लगभग भिखारी थे।

सोचा कि ट्रंक खोलकर सामान निकाल-कर कुछ ज़रूरी चिट्ठियाँ लिख डालूँ। मैंने एक सम्माननीय नेताको इसी प्रकार समयका सदुपयोग करते देखा था। अभी उजाला काफ़ी था। दो-चार चिट्ठियाँ रगड़ी जा सकती थीं। ट्रंकके पास मैं गया भी। उसे खोल भी दिया। लेकिन, क़लम उठानेके बजाय, मैंने पीतलका एक डिब्बा उठा लिया। ढक्कन खोलकर, मैंने उसमें से एक 'गाकर लड्डू' निकाला और मुँह में भर लिया। बहुत स्वादिष्ट था वह। उसमें गुड़ और डालडा घी मिला हुआ था... कि इसी बीच मुझे घरके बच्चोंकी याद आयी। और मैंने दूसरा लड्डू मुँहमें डालनेकी प्रवृत्ति पर पाबन्दी लगा दी।

तभी मुझे गान्धीजीकी याद आयी। क्या सिखाया उन्होंने? परदुःख-कातरता। इन्द्रिय-संयम। यह मैं क्या कर रहा हूँ! यद्यपि लड्डू मेरे लिए ही दिये गये हैं, और मैं पूर्णतया उन्हें खानेका नैतिक अधिकार भी रखता हूँ, लेकिन क्या यह सच नहीं कि बच्चोंको सिर्फ़ आधा-आधा ही दिया गया है! फिर मैं तो एक खा चुका हूँ।

पानी पीनेके लिए निकलता हूँ। मुसा-फ़िर वैसे-ही ठिठुरे-ठिठुरे, सिमटे-सिमटे बैठे हैं। उनके पास गरम कोट तो क्या, साधारण कपड़े भी नहीं हैं। उनमें-से कुछ बीड़ी पी रहे हैं। किसीके पास गरमकोट नहीं है, सिवाय मेरे। मैं अकड़ता हुआ स्टॉलपर, पानीकी तलाशमें, जाता हूँ।

मैं पूर्ण आत्मसन्तोषका आनन्द-लाभ करता हुआ वापस लौटता हूँ कि अब इस कार्यक्रमके बाद कौन-सा महान कार्य करूँ।

दूरसे देखता हूँ कि सामान सुरक्षित है। शाम डूब रही है। अँधेरा छा गया है। अभी कमसे कम चार घण्टे यहीं पड़े रहना है। एक पोर्टरसे बात करते हुए कुछ समय और गुज़ार देता हूँ।

और फिर होल्डाल निकालकर बिस्तर बिछा देता हूँ। सुन्दर गुलाबी अलवान और खुशनुमाँ कम्बल निकल पड़ता है। मैं अपने को वाक़ई भला आदमी समझने लगता हूँ, यद्यपि यह सच है कि दोनों चीज़ोंमें-से एक भी मेरी अपनी नहीं है।

ओवरकोट-समेत मैं बिस्तरपर ढेर हो जाता हूँ। टूटी हुई चप्पलें बिस्तरके नीचे सिर के पास इस तरह जमा कर देता हूँ कि मानो वह धन हो। धन तो वह हई है। कोई उसे मार ले तो! तब पता चलेगा!

गुलाबी अलवान ओढ़कर पड़ रहता हूँ। अभी स्टेशनपर कपड़ोंके मामलेमें मुझे चुनौती देनेवाला कोई नहीं आया। (शायद यह इलाक़ा बहुत ग़रीब है!) कहीं भी, एक भी खुशहाल सुन्दर, परिपुष्ट आकृति नहीं दिखाई दी।

कैसा मनहूस प्लेटफ़ॉर्म है।

मेरे बिस्तरके पास एक सीमेण्टकी बेंच है। वहाँ गठरियाँ रखी हुई हैं। सोचता हूँ, उसपर अपना ट्रंक क्यों न रख दूँ। गठरियाँ नीचे भी डल सकती हैं। ट्रंक उनसे उम्दा चीज़ है, उसे साफ़-सुथरी बेंचपर होना चाहिए।

लेकिन, उठनेकी हिम्मत नहीं होती। कड़ाकेका जाड़ा है। अलवानके बाहर मुँह निकालनेकी तबियत नहीं हो रही है। लेकिन, नींद भी तो आँखोंसे दूर है।

विचित्र समस्या है। खुद ही अकेलेमें, अपनेको अकेले ही शानदार समझते रहने—इसमें क्या धरा है! शानका सम्बन्ध अपनेसे ज़्यादा दूसरोंसे है। यह अब मालूम हुआ! लेकिन, किस मुश्किलमें।

इसी बीच, एकाएक, न मालूम कहाँसे, चार फ़ुटका एक गोरा-चिट्टा लड़का सामने आ जाता है। वह टेरीलीनका कुरता पहने हुए है। खाकी चड्डी है। चेहरा लगभग गोल है। गोरे चेहरेपर भवोंकी धुँधली लकीर दिखाई देती है। या उनका भी रंग गोरा है।

वह सामने खड़े-ही-खड़े एक चमड़ेके छोटे-से बैगकी ओर इशारा करते हुए कहता है, "साब, ज़रा ध्यान रखियेगा। मैं अभी आया!"

एकाएक इस तरह किसीका आकर कुछ कहना मुझे अच्छा लगा। उसकी आवाज़ कमज़ोर है। लेकिन, उस आवाज़में भले घरकी झलक है। उसके साफ़-सुथरे कपड़ोंसे भी यही बात झलकी है।

मैं 'हाँ' कह ही रहा था कि उसके पहले लड़का चला गया। मैं उसके बारेमें सोचता रहा, न जाने क्या!

आधे घण्टे बाद वह फिर आया। और चुपचाप चमड़ेके बैगके पास जाकर बैठ गया। सर्दीके मारे, उसने अपनी हथेलियाँ खाकी चड्डीकी जेबमें डाल रखी थीं। मैंने गुलाबी अलवानके नीचेसे मुँह उठाकर उसे देखा।

भले ही वह टेरीलीनका बुश्शर्ट पहने हो, वह खूब ठिठुर रहा था। बुश्शर्टके नीचे एक

अण्डरवीयर था। बस। उसके पास ओढ़ने-बिछानेके भी कपड़े नहीं थे।

कुछ कुतूहल और कुछ चिन्तासे मैंने पूछा, ''तुम ओढ़नेके कपड़े लेकर क्यों नहीं आये! कितना जाड़ा है! ऐसे कैसे आये!''

उसने जो उत्तर दिया, उसका आशय यह था कि यहाँसे क़रीब पचास मील दूर शहर बालाघाटमें एक बारात उतरी थी। उसमें वह, उसके घरवाले और दूसरे रिश्तेदार भी थे। एक रिश्तेदार वहाँसे आज ही नागपुर चल दिया, लेकिन अपना चमड़ेका बैग भूल गया। चूँकि वहाँवालोंको मालूम था कि गाड़ी नागपुरवाली उस स्टेशनसे बहुत देरसे छूटती है, इसीलिए, उन्होंने इस लड़केके साथ यह बैग भेज दिया।

लेकिन, अब यह लड़का कह रहा है कि, रिश्तेदार कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं। वह दो बार प्लेटफ़ॉर्मका चक्कर काट आया। शायद वे सम्बन्धी महोदय बससे नागपुर रवाना हो गये। और, अब चमड़ेका बैग सम्भाले हुए यह लड़का सर्दीमें ठिठुरता हुआ यहाँ बैठा है। वह भी मेरी साढ़े बारह बजेवाली गाड़ीसे बालाघाट पहुंच जायेगा। यह गाड़ी वहाँ रातके डेढ़ बजे पहुँचती है।

कड़ाकेका जाड़ा और रातके डेढ़। मैंने कल्पनाकी कि इसकी माँ फूहड़ है, या वह उसकी सौतेली माँ है। आखिर, उसने क्या सोचकर अपने लड़केको इस भयानक सर्दीमें, बिना खास इन्तज़ामके एक ज़िम्मेदारी देकर, रवाना कर दिया!

मैं बिस्तरसे उठ पड़ा। ट्रंक खोली। उसमें-से डबलरोटीके दो टुकड़े निकाले। फिर सोचा, एक लड्डू भी निकाल लूँ। किन्तु, यह विचार आया कि लड़का टेरीलीनका बुश्शर्ट पहने है, फिर लड्डू गुड़के हैं, वह उसका अनादर कर सकता है।

उसके हाथमें, डबलरोटीके दो टुकड़े और चायवालेसे लिया हुआ एक चायका कप देते हुए कहा, ''तुमने अभी कुछ नहीं खाया है। लो, इसे लो।''

''नहीं-नहीं, मैंने भुजिये खाये हैं।'' और लड़केके नन्हें हाथोंने तुरन्त ही लपककर उसे ले लिया। उसको खाते-पीते देखकर मेरी आत्मा तृप्त हो रही थी।

मैंने पूछा, ''बालाघाटसे कब चले थे?''

''तीन बजे।''

''तीन बजेसे तुमने कुछ नहीं खाया?''

''नहीं तो, दो आनेके भुजिये खाये थे। चाय पी थी।''

मेरा ध्यान फिर उसके माता-पिताकी ओर गया और मैं मन-ही-मन उन्हें गाली देने लगा।

मुझे नींद नहीं आ रही थी। मैंने लड़केसे कहा, ''आओ, बिस्तरपर चले आओ। साढ़े दस बजे उठा दूँगा।''

लड़केने तुरन्त ही चमड़ेके अपने क़ीमती जूतेके बन्द खोले, मोज़े निकाले। सिरहाने रख दिया। और बिस्तरके भीतर पड़ गया।

मैं ट्रंकके पास बैठा हुआ था। लड़का मेरे बिस्तरे पर। मैं खुद जाड़ेमें। वह गरमी महसूस करता हुआ।

किन्तु, मेरा ध्यान उस लड़केकी तरफ़ था। कितना भोला विश्वास है उसके

चेहरे पर।

और, मैं सोचने लगा कि मनुष्यता इसी भोले विश्वासपर चलती है। और इस भोले विश्वासके वातावरणमें ही कपट और छल करनेवाले पनपते हैं।

मेरे बदनपर ओवरकोट था, लेकिन अब वह कोई गरमी नहीं दे रहा था।

मैं फिरसे टी-स्टॉलपर गया। फिर एक कप चाय पी। और, मनुष्यके भाग्यके बारेमें सोचने लगा। मान लीजिए, इस लड़केके पिताने दूसरी शादी कर ली है! इस लड़केकी माँ मर गयी है, और जो है, वह सौतेली है! अगर अभीसे वह लड़केको इतनी उपेक्षा करती है तो हो चुकी अच्छी तालीम! क्या पता, इस लड़केका भाग्य क्या हो!

लड़केने मेरी दी हुई हर चीज़ लपक कर ली थी। मुझ पर खूब गहरा विश्वास कर लिया था। क्या यह इसका सबूत नहीं है कि लड़केके दिलमें कहीं कोई जगह है जो कुछ माँगती है, कुछ चाहती है! ईश्वर करे, उसका भविष्य अच्छा बने!

इन्हीं खयालोंमें डूबता-उतराता मैं अपने बच्चोंको देखने लगा, जो घरमें दरवाज़े बन्द करके भी तेज़ सर्दी महसूस कर रहे होंगे। उनके पास रज़ाई भी नहीं है। तरह-तरहके कपड़े जोड़-जाड़कर जाड़ा निकालते हैं। इस समय, घर सूना होगा, और वे मेरी याद करते बैठे होंगे। बच्चे! बच्चे! और उनकी वह माँ, जो सिर्फ़ भात खाकर, मोटी हुई जा रही है, लेकिन चेहरे पर पीलापन है!

मैंने बच्चेको सिखा दिया है कि बेटे, कभी इच्छामय दृष्टिसे दुनियाको मत देखना। हम मामूलीसे मामूली इच्छा भी पूरी नहीं कर सकते। और चाहे जो करो, मौक़ा पड़नेपर झूठ बोल सकते हो, लेकिन यह मत भूलना कि तुम्हारे ग़रीब माँ-बाप थे। तुम्हारी जन्मभूमि ज़मीन और धूल और पत्थरसे बनी यह भारतकी धरती ही नहीं है। वह है — ग़रीबी। तुम कटे-पिटे दाग़दार चेहरेवालोंकी सन्तान हो! उनसे द्रोह मत करो। अपने इन लोगोंको मत त्यागना। प्रगतिवाद तो मैंने अपने घरसे शुरू कर दिया था। मेरे बड़े बच्चेको यह कविता रटा दी थी :

ज़िन्दगीकी कोखमें जन्मा
नया इस्पात
दिलके ख़ूनके रंग कर!
तुम्हारे शब्द मेरे शब्द
मानव-देह धारण कर
अरे चक्कर लगा घर-घर, सभी से
कह रहे हैं
''''सामना करना मुसीबत का,
बहुत तन कर
खुद को हाथमें रख कर!
उपेक्षित काल—पीड़ित सत्य—गो के दूध
उदासी से भरे गम्भीर,
मटमैले गऊ चेहरे।
उन्हींको देखकर जीना
कि करुणा करनी की माँ है।
बाक़ी सब कुहासा है, धुँआ-सा है।

लेकिन, यह थोड़े ही है कि लड़का मेरी बात मान ही जायेगा। मनुष्यमें कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं! सम्भव है, वह थानेदार

बन जाये और डण्डे चलाये । कौन जानता है ।

मैं अपनी ही कविताका मज़ा लेता हुआ और भीतर झूमता हुआ वापिस लौटता हूँ । उस वक़्त सर्दी मुझे कम महसूस होने लगती है । बिस्तरके पास जाकर खड़ा हो जाता हूँ । और गुलाबी अलवान और नरम कम्बलके नीचे सोये हुए उस बालककी शान्त निद्रित मुद्राको मग्न अवस्थामें देखने लगता हूँ । और मेरे हृदयमें प्रसन्न ज्योति जलने लगती है ।

कि इसी बीच मुझे बैठ जानेकी तबियत होती है । पासवाली सीमेण्टकी बेंचपर ज़रा टिक जाता हूँ । और बायीं ओर रेलवे-अहाते-के पार देखने लगता हूँ ।

बायीं ओर बेंचपर रखी गठरियोंके पास बैठे हुए दूसरी आकृतिकी ओर ध्यान जाता है ।

हरी धारीवाला एक सफ़ेद शर्ट पहने वह बालक है, जो घुटनोंको छातीसे चिपकाये बैठा है । बाँहोंसे उसने अपने घुटनोंको छातीसे जकड़ लिया है, और ऊपरवाली बीचकी पोली जगहमें उसने अपना मुँह फँसा दिया है । मुझे उसका मुँह नहीं दीखता, सिर्फ़ उसका सिर और बाल दीखते हैं । वह न मालूम कबसे वैसा बैठा है । और ठिठुरा-ठिठुरा (गठ-रियोंके बीच) वह ख़ुद गठरी बनकर लुप्त-सा हो गया है ।

अगर मैं अपने लड़केको आज रातको सफ़र कराता तो शायद वह भी इसी तरह बैठता । क्यों बैठता । मैं तो उसका इन्तज़ाम करके भेजता, किसी भी तरह, क्योंकि मेरे कनेक्शन्स (सम्बन्ध) अच्छे हैं । इस बेचारे ग़रीब देहातीके लड़केके सम्बन्ध क्या हो सकते हैं !

मैं उस लड़केको पुनः एकाग्रचित्तसे देखने लगता हूँ । उसका मुँह अभी तक घुटनोंके बीच फँसा है । अपने अस्तित्वको नगण्य और शून्य बनाकर वह किसी निःसंग अन्धकारमें विलीन होना चाह रहा है ।

मैं उसके पास जाकर खड़ा हो जाता हूँ, ताकि उसकी हलचल, अगर है, तो दिखाई दे । लेकिन नहीं, उसने तो अपने और मेरे बीच एक फ़ासला मुख्य कर लिया है ।

लेकिन, क्या यह सच नहीं है कि मैं उसे उठा सकता हूँ, मैं उसे कुछ-न-कुछ दे सकता हूँ । मैं उसे भी डबलरोटीका एक टुकड़ा और एक कप चाय देकर उसके भीतर गरमी पैदा कर सकता हूँ ।

लेकिन, मैं वहाँसे हट जाता हूँ । फिर बेंचके किनारेपर बैठ जाता हूँ और, फिर प्लेटफ़ॉर्मकी सूनी बत्तियोंको देखने लगता हूँ । मेरा मन एकाएक स्तब्ध हो जाता है ।

मेरे बिस्तरपर सोनेवाला बालक ठीक समयपर अपने आप ही जाग उठा । तुरन्त मोज़े पहने, चमड़ेका क़ीमती जूता पहना, बन्द बाँधे । अपने टेरीलीनके बुश्शर्टको ठीक किया । नेकरकी जेबमें-से कंघी निकालकर बालोंको सँवारा ।

और, बिस्तरसे बाहर आकर खड़ा हो गया, चुस्त और मुस्तैद । और, फिर, अपनी उसी कमज़ोर पतली आवाज़में कहा, "टिकट-घर खुल गया होगा !"

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित

कहानी संग्रह

कमलेश्वर :

• **खोयी हुई दिशाएँ**

कमलेश्वरकी चुनी-चुनी ग्यारह नयी कहानियाँ जो बिना सन्देह एक बदली हुई मनोभूमि प्रस्तुत करती हैं—वह मनोभूमि जो लेखककी ही नहीं, समूचे समाजकी है। कहानियोंमें जीवनका अध्ययन है मात्र सर्वेक्षण नहीं। २.५०

शिवप्रसाद सिंह :

• **कर्मनाशाकी हार**

सोलह कहानियाँ : समाजके ऐसे अंगों और जीवनके ऐसे पहलुओंसे साक्षात्कार कराती हैं जो अभी तक भूले-बिसरे रहे। सभी कहानियोंकी सहज निरायास अभिव्यक्ति मनको अभिभूत करेगी। ३.००

मोहन राकेश :

• **नये बादल**

राकेशकी चुनी हुई अनूठी कहानियोंका संग्रह। हर कहानीमें जीवनके प्रति लेखककी ईमानदारीका आग्रह स्पष्ट है। मानवीय अन्तर्द्वन्द्वों, उसकी घृणा और संवेदना बड़ी मार्मिकतासे इन कहानियोंमें विश्लेषित हुई है। २.५०

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय-केन्द्र : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मैंने पूछा, "टिकटके लिए पैसे हैं, या दूँ ?"

"नहीं-नहीं, वह सब मेरे पास हैं।" यह उसने इस तरह कहा जैसे वह अपनी देखभाल अच्छी तरह कर सकता हो !

वह चला गया। मुझे लगा कि टेरीलीनके बुश्शर्टवाले इस बालकको दूसरोंकी सहायताका अच्छा अनुभव है। और वह स्वयं, एक सीमा तक, छल और निश्छलताका विवेक कर सकता है।

मेरा बिस्तर खाली हो गया, और मैं चाहूँ तो बेंचके दूसरे छोरपर घुटनोंमें मुँह ढांपे इस दूसरे बालकको आरामकी सुविधा दे सकता हूँ।

और मैं अपने मनके निःसंग अन्धकारमें कहता हूँ, "उठो, उठो, उस बालकको बिस्तर दो !"

लेकिन मैं जड़ हो गया हूँ। और, मेरे अँधेरेके भीतर एक नाराज़ और सख़्त आवाज़ सुनाई देती है,—"मेरा बिस्तर क्या इसीलिए है कि वह सार्वजनिक सम्पत्ति बने। शीः ! ऐसे न मालूम कितने ही बालक हैं जो सड़कोंपर घूमते रहते हैं !"

मैं बेंचके किनारेपर-से उठ पड़ता हूँ और टी-स्टॉलपर जाकर एक कप चाय और पीता हूँ। सर्दी मेरे बदनमें कुछ कम होती है। और फिर मैं अपने सामानकी तरफ़ रवाना होता हूँ।

सीमेण्टकी ठण्डी बेंचके किनारेपर, घुटनोंमें मुँह ढाँपे हुए उस बालककी आकृति मुझे दूर ही से दिखाई देती है। क्या वह सर्दीमें ठिठुरकर मर तो नहीं गया !

लेकिन, पास पहुँचकर भी मैं उसे हिलाता-डुलाता नहीं, उसे जगानेकी कोशिश नहीं करता, न उसके चारों ओर, चुपचाप, अलवान डालनेकी कोशिश करता हूँ। सोचता हूँ, करना चाहिए; लेकिन, नहीं करता।

आश्चर्य है कि मैं भीतरसे इतना जड़ क्यों हो गया हूँ, कौन-सी वह भीतरी पकड़ है जो मुझे वैसा करनेसे रोकती है।

मैं टिकट खरीदने गये टेरीलीनवाले लड़केकी राह देखता हूँ। वह अब तक क्यों नहीं आया ?

कि एकाएक यह खयाल पूरे जोरके साथ कौंध उठता है—अगर मैं ठण्डमें सिकुड़ते इस लड़केको बिस्तर दूँ तो मेरी (दूसरोंकी ली हुई ही क्यों न सही) यह क़ीमती अलवान और नरम कम्बल, यह दूधिया चादर खराब हो जायेगी, मैली हो जायेगी। क्योंकि, जैसा कि साफ़ दिखाई देता है कि यह लड़का अच्छे-खासे, साफ़-सुथरे बढ़िया कपड़े पहने हुए थोड़े है। मुद्दा है। हाँ, मुद्दा यह है कि वह दूसरे और निचले क़िस्मके, निचले तबक़ेके लोगोंकी पैदावार है।

मैं अपने भीतर ही नंगा हो जाता हूँ। और अपने नंगेपनको ढाँपनेकी कोशिश भी नहीं करता।

उस वक़्त घड़ी ठीक बारह बजा रही थी और गाड़ी आनेमें अभी आधे घण्टेकी देर थी।

■ ■

ऑस्कर वाइल्डकी कहानियाँ

अनु०—डॉ० धर्मवीर भारती

(२.५०)

●

मोतियोंवाले

कर्तारसिंह दुग्गल

(२.५०)

●

प्यारके बन्धन

रावी

(३.२५)

●

आकाशके तारे : धरतीके फूल

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

(२.००)

●

अपराजिता

भगवतीशरण सिंह

(२.५०)

●

बोस्ताँ

शेख़ सादी

(२. ५०)

●

एक परछाईं : दो दायरे

गुलाबदास ब्रोकर

(३.००)

● ● ● ● ● ● ● ● ● ● ● ● ● ● ●

ये कहानी-संग्रह अपने निकटके श्रेष्ठ पुस्तक-विक्रेता-से प्राप्त करें। न मिलनेपर इन पतोंपर कहीं लिखें :

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय-केन्द्र

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

एक ठहरा हुआ चाकू

मोहन राकेश

[मोहन राकेश :
पहली कहानी : १९४७]

■

अजीब बात थी कि खुद कमरेमें होते हुए भी बाशीको कमरा खाली लग रहा था ।

उसे काफ़ी देर हो गयी थी कमरेमें आये हुए—या शायद उतनी देर नहीं हुई थी जितनी कि उसे लग रही थी । वक़्त उसके लिए दो तरहसे बीत रहा था—जल्दी भी और आहिस्ता भी....उसे, दरअसल, वक़्तका ठीक अहसास हो नहीं रहा था ।

कमरेमें कुछ-एक कुरसियाँ थीं—लकड़ीकी । वैसी ही जैसी सब पुलिस-स्टेशनोंपर होती हैं । कुरसियोंके बीचोबीच एक मेज़नुमा तिपाई थी जो कि कुहनी ऊपर रखते ही झूलने लगती थी । आठ फ़ुट और आठ फ़ुटका वह कमरा इनसे पूरा घिरा हुआ था । टूटे पलस्तरकी दीवारें कुरसियोंसे लगभग सटी हुई जान पड़ती थीं । शुक्र था कि कमरेमें दरवाज़ेके अलावा एक खिड़की भी थी ।

बाहर अहातेमें बार-बार चरमराते जूतोंकी आवाज़ सुनाई देती थी—यही वह सब-इन्स्पेक्टर था जो उसे कमरेके अन्दर छोड़ गया था । उस आदमीका चेहरा आँखोंसे दूर होते ही भूल जाता था, पर सामने आनेपर फिर एकाएक याद हो आता था । कलसे आजतक वह कमसे कम बीस बार उसे भूल चुका था ।

उसने सुलगानेके लिए सिगरेट जेबसे निकाला, पर यह देखकर कि उसके पैरोंके पास पहले ही काफ़ी टुकड़े जमा हो चुके हैं, उसे वापस जेबमें रख लिया । कमरेमें एक एश-ट्रे का न होना उसे शुरूसे ही अखर रहा था । इस वजहसे वह एक भी सिगरेट आरामसे नहीं पी सका था । पहला सिगरेट पीते हुए उसने सोचा था कि पीकर टुकड़ा खिड़की से बाहर फेंक देगा । पर उधर जाकर देखा कि खिड़कीके ठीक नीचे एक चारपाई बिछी

है जिसपर लेटे या बैठे हुए दो-एक कान्स्टेबल अपना आरामका वक़्त बिता रहे हैं। उसके बाद फिर दूसरी बार वह खिड़कीके नज़दीक नहीं गया।

अकेले कमरेमें वक़्त बितानेके लिए सिगरेट पीनेके अलावा भी जो कुछ किया जा सकता था, वह कर चुका था। जितनी कुरसियाँ थीं, उनमें-से प्रायः हर-एकपर एक-एक बार बैठ चुका था। उनके इर्द-गिर्द चहलक़दमी कर चुका था। दीवारोंका पलस्तर दो-एक जगहसे उखाड़ चुका था। मेज़पर एक बार पेंसिलसे और न जाने कितनी बार उँगलीसे अपना नाम लिख चुका था। एक ही काम था जो उसने नहीं किया था—वह था दीवारपर लगी क्वीन विक्टोरियाकी तसवीरको थोड़ा तिरछा कर देना। बाहर अहातेसे लगातार जूतेकी चरमर सुनाई न दे रही होती, तो उसने अबतक यह भी कर दिया होता।

उसने अपनी नब्ज़पर हाथ रखकर देखा कि वह बहुत तेज़ तो नहीं चल रही। फिर एकाएक हाथ हटा लिया—जैसे कि किसीने उसे ऐसा करते देख लिया हो।

उसे लग रहा था कि वह थक गया है और उसे नींद आ रही है। रातको उसे ठीकसे नींद नहीं आयी थी। ठीकसे क्या, शायद बिलकुल ही नहीं आयी थी। या शायद नींदमें भी उसे लगता रहा था कि वह जाग रहा है। उसने बहुत कोशिश की थी कि जागनेकी बात भूलकर किसी तरह सो सके—पर इस कोशिश में ही पूरी रात निकल गयी थी।

उसने जेबसे पेंसिल निकाल ली और बायें हाथपर अपना नाम लिखने लगा—बाशी, बाशी, बाशी। सुभाष, सुभाष, सुभाष।

आज सुबह यह नाम प्रायः सभी अखबारोंमें था। रोज़के अखबारके अलावा उसने तीन-चार अखबार और भी ख़रीदे थे। किसी अखबारमें दो इंचमें ख़बर दी गयी थी, किसीमें दो कॉलममें। दो कॉलममें ख़बर देनेवाला रिपोर्टर उसका परिचित था। वह अगर उसका परिचित न होता, तो शायद····

वह अब अपनी हथेलीपर दूसरा नाम लिखने लगा—वह नाम जो उसके नामके साथ-अखबारोंमें छपा था—नत्था सिंह, नत्था सिंह, नत्था सिंह।

यह नाम लिखते हुए उसकी हथेलीपर पसीना आ गया। उसने पेंसिल रखकर हथेलीको मेज़से पोंछ लिया।

जूतेकी चरमर दरवाज़ेके पास आ गयी। सब-इन्स्पेक्टरने एक बार अन्दर झाँककर पूछ लिया, "आपको किसी चीज़की ज़रूरत तो नहीं?"

"नहीं," उसने सिर हिला दिया। उसे तब ऐश-ट्रे का ध्यान नहीं आया।

"पानी-आनीकी ज़रूरत हो, तो माँग लीजियेगा।"

उसने फिर सिर हिला दिया—कि ज़रूरत होगी, तो माँग लूँगा। साथ पूछ लिया, "अभी और कितनी देर लगेगी?"

"अब ज़्यादा देर नहीं लगेगी," सब-इन्स्पेक्टरने दरवाज़ेके पाससे हटते हुए कहा, "बस पन्द्रह-बीस मिनटमें ही उसे ले आयेंगे।"

इतना ही वक़्त उसे तब भी बताया गया

था जब उसे उस कमरेमें लाया गया था। तब से अबतक क्या वक़्त बीता ही नहीं था?

जूतेके अन्दर, दायें पैरके तलवेमें खुजली हो रही थी। जूता खोलकर एक बार अच्छी तरह खुजला लेनेकी बात वह कितनी ही बार मनमें सोच चुका था। पर हाथ दो-एक बार नीचे झुकाकर भी उससे तस्मा खोलते नहीं बना था। उस पैरको दूसरे पैरसे दबाये वह सिर्फ़ जूतेको ज़मीनपर रगड़कर रह गया था।

उसके हाथकी पेंसिल फिर चल रही थी। उसने अपनी हथेलीको देखा। दोनों नामोंके ऊपर उसने बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिख दिया था—अगर।

अगर....।

अगर कल सुबह वह स्कूटरकी बजाय बससे आया होता····।

अगर बर्फ़ खरीदनेके लिए उसने स्कूटर-को दायरेके पास न रोका होता····।

अगर····।

उसने जूतेको फिर ज़मीनपर रगड़ लिया। उसकी आँखोंके सामने मिन्नीका चेहरा आने लगा। अगर कल वह मिन्नीसे न मिला होता····।

वह, जो कभी सुबह नौ बजेसे पहले नहीं उठता था, सिर्फ़ मिन्नीकी वजहसे ही तो उन दिनों सुबह छह बजे तैयार होकर घरसे निकल जाता था। मिन्नीने मिलनेकी जगह भी क्या तय की थी—अजमेरी गेटके अन्दर हलवाईकी एक दुकान! जिस प्राइवेट कॉलेजमें वह पढ़ने आती थी, उसके आसपास बैठने लायक़ और कोई जगह थी भी नहीं। एक दिन वह उसे जामा मस्जिद ले गया था—कि वहाँके किसी होटलमें बैठेंगे। पर उतनी सुबह किसी होटल-का दरवाज़ा नहीं खुला था। आखिर मेहतरोंकी उड़ायी धूलसे सिर-मुँह बचाते वे उसी दूकानपर लौट आये थे। दुकानके अन्दर पन्द्रह-बीस मेज़ें लगी रहती थीं। सुबह-सुबह ही लस्सी-पूरीका नाश्ता करनेवाले लोग वहाँ जमा हो जाते थे। उनमें-से बहुत-से तो उन्हें पहचानने भी लगे थे—कि रोज़ वे कोनेकी मेज़ लेकर वहाँ घण्टा-घण्टा-भर बैठे रहते हैं। मिन्नी अपने लिए सिर्फ़ कोकाकोलाकी बोतल मँगवाकर सामने रख लेती थी—पीती वह भी नहीं थी। लस्सी-पूरीका आर्डर उसे अपने लिए देना पड़ता था। जल्दी खानेकी आदतके कारण सामनेका पत्ता दो मिनटमें ही साफ़ हो जाता था। मिन्नी कई बार दो-दो पीरियड गोल कर देती थी, इसलिए वहाँ बैठनेके लिए उसे और-और पूरी मँगवाकर खाते रहना पड़ता था। उससे सुबह-सुबह उतना नहीं खाया जाता था, पर चुपचाप कौर निगलते जानेके सिवा कोई चारा भी नहीं रहता था। मिन्नी जब देखती कि खा-खाकर उसकी हालत खस्ता हो रही है, तो कहती कि कुछ देर पासकी गलियोंमें घूम लिया जाये। सड़क-पर वे नहीं घूम सकते थे क्योंकि कॉलेजकी दूसरी लड़कियाँ वहाँ आती-जाती रहती थीं। हलवाईकी दुकानके साथ ही गली अन्दरकी मुड़ती थी—उससे आगे गलियोंकी लम्बी भूल-भुलैया थी जिसमें वे किसी भी तरफ़को निकल जाते थे। जब चलते-चलते सामने सड़कका मुहाना नज़र आ जाता, तो वहींसे

वे लौट पड़ते थे।

"इस इतवारको कोई देखने आनेवाला है," उस दिन मिन्नीने कहा था।

"कौन आनेवाला है ?"

"कोई है—खाटमण्डूसे आया है। दस दिनमें ही शादी करके लौट जाना चाहता है।"

"फिर ?"

"फिर कुछ नहीं। आयेगा, तो मैं उससे सब साफ़-साफ़ कह दूँगी।"

"क्या कह दोगी ?"

"यह तुम क्यों पूछते हो ? तुम्हें पूछनेकी ज़रूरत नहीं।"

"अगर उस वक़्त तुम्हारी ज़बान न खुल सकी, तो ?"

"तो समझ लेना कि ऐसे ही बेकारकी एक लड़की थी····जो इस लायक़ थी ही नहीं कि तुम उससे किसी तरहकी रास्त रखते।"

"पर तुमने पहले ही घरमें क्यों नहीं कह दिया ?"

"यह तुम जानते हो कि मैंने नहीं कहा ?" कहते हुए मिन्नीने उसकी उँगलियाँ अपनी उँगलियोंमें ले ली थीं। "अभी तो तुम दूसरेके घरमें रहते हो। जब तुम अपना घर ले लोगे, तो मैं····तब तक ग्रेजुएट भी हो जाऊँगी।"

एक बहते नलका पानी गलीमें यहाँसे वहाँ तक फैला था। बचनेकी कोशिश करने पर भी दोनोंके जूते कीचड़से लथपथ हो गये थे। एक जगह उसका पाँव फिसला, तो मिन्नीने उसे बाँहसे पकड़कर सँभाल लिया। कहा, "ठीकसे देखकर नहीं चलते न, पता नहीं, अकेले रहकर कैसे अपनी देखभाल करते हो ?"

अगर····।

अगर मिन्नीने यह न कहा होता, तो वह उतना खुश-खुश न लौटता। उस हालतमें ज़रूर स्कूटरके पैसे बचाकर बससे आया होता।

अगर घरके पासके दायरेमें पहुँचने तक उसे प्यास न लग आयी होती····।

उसने स्कूटरको वहाँ रोक लिया था—कि दस पैसेकी बर्फ़ खरीद ले। महीना जुलाई-का था, फिर भी उसे दिन-भर प्यास लगती रहती थी। दिनमें कई-कई बार वह बर्फ़ खरीदने वहाँ आता था। दुकानदार उसे दूरसे देखकर ही पेटी खोल लेता था और बर्फ़ तोड़ने लगता था।

पर तबतक बर्फ़की दुकान अभी खुली नहीं थी।

बर्फ़ खरीदनेके लिए उसने जो पैसे जेबसे निकाले थे, उन्हें हाँथमें लिये वह स्कूटरके पास लौटकर आया, तो एक और आदमी उसमें बैठ चुका था। वह पास पहुँचा, तो स्कूटरवालेने उसकी तरफ़ हाथ बढ़ा दिया—जैसे कि वह वहाँ उतरकर स्कूटर खाली कर चुका हो।

"स्कूटर अभी खाली नहीं है," उसने स्कूटरवालेसे न कहकर अन्दर बैठे आदमीसे कहा।

"खाली नहींसे मतलब ?" उस आदमी-का चेहरा सहसा तमतमा उठा। वह एक लम्बा-तगड़ा सरदार था—लुंगी और मलमल-का कुरता पहने। लम्बा शायद उतना नहीं

[शेष पृष्ठ १९६ पर]

मुक्ति

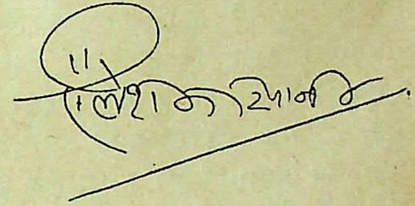

[शैलेश मटियानी :
पहली रचना : १९५५]

दोपहर हो गयी थी, मगर मृतक-कोण* का दीपक अनवरत रूपसे जल रहा था। रात बीतते-बीतते, जिस समय श्यामसिंह मांके शव-दाहसे वापस लौटा था, इस जलते हुए दीपकको देखकर, एक बार ठीक वैसी ही अनुभूति उसे हुई थी, जैसी मांकी मृत्युके समय। मांकी मृत्युके समय वह उसके सिरको पीछेसे अपनी हथेलीके सहारे उठाये हुए था और एकाएक मांके चेहरेकी त्वचा ऐसे खिंच गयी थी, जैसे गरम तवेपर रख दिये गये हरे पत्तेके रेशे सिकुड़ जाते हैं।

श्यामसिंहने अनुभव किया था, उसकी हथेलीपर कुछ अतिरिक्त बोझ-सा आ पड़ा था। उसने देखा था, कि ठीक उसी क्षण मांकी आंखें थोड़ी-सी उघड़ी थीं, ऐसे, जैसे किसी मरणासन्न चिड़ियाकी चोंच खोली जा रही हो, दो बूंद जल डालनेके लिए। अपने चेहरेके प्रतिबिम्बको श्यामसिंहने उस एक क्षणमें ऐसे घूमता हुआ-सा महसूस किया था, जैसे वह खुद तो स्थिर किसी तालाबके किनारे सिर झुकाये खड़ा हो और स्वयं जल ही उसके प्रतिबिम्बको बहुत तेजीसे हिला रहा हो।

---

* घरके जिस कोनेमें मांकी मृत्यु हुई।

प्रधानजीने गंगाजल मुँहमें डालते हुए कहा था, "लगता है, सिर्फ़ बेटेका मुँह देखनेको ही प्राण रुके हुए थे भागवानके ! हरे राम ।"

बीमारीमें जालन्धर तार पहुँचा था। और श्यामसिंहके घर लौटनेके कई दिनों बाद माँकी मृत्यु हुई थी। मगर श्यामसिंहने अनुभव किया था, कि माँने उसके चेहरेको मृत्युके क्षण जिस मर्मवेधी दृष्टिसे देखा था, वैसी पारदर्शी एकाग्रतासे, शायद, सिर्फ़ एक बार तब देखा होगा जब उसका जन्म हुआ होगा। और उसका मुँह माँने पहली बार देखा होगा। माँको मृत्युके समय, श्यामसिंहने अनुभव किया था, किसीने उसकी आकृतिको बिजलीकी-सी तेज़ीसे पकड़कर अपनी ओर खींच लिया है।....

अब दोपहर हो चुकी है।

मृतक-कोणमें दीपक अनवरत रूपसे मद्धिम-मद्धिम जल रहा है।

श्यामसिंह नहीं निश्चित कर पा रहा है कि वह अपनी इस अजीब-सी अनुभूतिको किसी औरसे कहे या नहीं। कभी-कभी मनुष्य इतनी अमूर्त्त अनुभूतियोंसे गुज़रता है, कि न तो उन्हें व्यक्त किया जा सकता है, न अपने ही अन्दर निःशेष किया जा सकता है। ऐसी अनुभूतियोंमें जीनेके क्षणोंमें और दोपहरको दीपककी लौको देखनेके क्षणोंमें एक अजीब-सा साम्य होता है। अपने अन्दर-ही-अन्दर ऐसी तमाम अनुभूतियाँ सिमटती-सिमटती एक लौ बन जाती हैं और ऐसा लगने लगता है, इनसे मुक्तिके लिए उस मृत्युका पुनर्भोग आवश्यक है, जिसमें-से ये अमूर्त्त-सी अभूतियाँ जन्म लेती हैं। माँको मरते हुए देख चुकनेके बाद, न जाने क्यों किसी औरको भी—या अपनेको ही—मरते हुए देखनेकी उद्दाम तृष्णा बार-बार हो आती है। माँको मृत्युके समय जो एक अपनी आकृतिको खींचता हुआ-सा मृत्यु-क्षण जीनेको मिला था, लगता है, उसमें भयसे कहीं बहुत अधिक जिज्ञासाका आकर्षण था। लगता है, वह क्षण एक ऐसी जिज्ञासा शेष छोड़ गया है, जो दोपहरको जलते दीपककी तरह अन्दर-ही-अन्दर रोशनीकी एक लकीर खींच रही है। एक लकीर, जो मनुष्यके समग्र आन्तरिक अस्तित्व—उसकी प्रश्नाहत अन्तश्चेतना—को दो हिस्सोंमें बाँटकर, एक ओर लोहेकी तरह छोड़ देती है, दूसरी ओर चुम्बककी तरह।....और ऐसे क्षणोंमें लगने लगता है, कि ज़िन्दगी और मृत्युके बीच सिर्फ़ एक इसी लकीरका व्यवधान मात्र है।

दोपहरमें जलते हुए दीपककी रोशनीमें श्यामसिंहको अपना घुटा हुआ सिर अजीब-सा लग रहा है और उसे बार-बार याद आ रहा है कि माँके शव-दाहके समय उसे कुछ ऐसी अनुभूति हुई थी, जैसे किसी गर्भवती औरतका शव-दाह हो रहा हो। तो क्या माँने मरते समय अपने उस अंशको श्यामसिंहमें-से खीच लिया था, जो जन्मके समय दिया था ? अपने उस अंशको, जिसे माँ अपने बच्चेको अपने गर्भमें नहीं, बल्कि अपनी पहली-पहली दृष्टिमें देती है ? तो क्या प्रत्येक माँ अपने बेटेकी मृत्युके समय इसीलिए अपनी आँखोंके

सामने रखना चाहती है, कि अपनी मृत्युके क्षणमें वह उसमें प्रक्षिप्त अपने अंशको ठीक वैसे ही वापस खींच सके, जिस तरह कैमरेका 'लेन्स' चित्र खींच लेता है ?

शायद, इसीलिए वह माँ ज़्यादा निःस्पृह रूपसे देहको त्याग पाती हो, जिसे मृत्युके क्षण अपना सबसे प्रिय पुत्र सुलभ हो या पति। माँकी सद्गति ठीकसे करनेका अवसर मिल गया है, श्यामसिंहको इस बातका सन्तोष है।

दोपहरका दीपक उसी नैरन्तर्यके साथ जल रहा है। उसकी लौ वैसे ही मध्यस्थ-रेखाकी तरह काँप रही है। श्यामसिंह अनुभव कर रहा है, यह रोशनीकी लकीर सिर्फ़ ज़िन्दगी और मृत्युके ही नहीं, बल्कि इनसे सम्बद्ध सारे प्रश्नों और परिवेशके बीचकी विभाजक रेखा भी है। एक ऐसी विभाजक रेखा, जिसके एक ओर अपनी तृष्णाओंका परिवेश पड़ा रहता है और दूसरी ओर प्रश्ना-हत अन्तश्चेतना। एक ओर चार बच्चोंवाली पत्नी कमला पड़ी रहती है, दूसरी ओर जालन्धरमें अपने पहले पतिके पास ही अपने पहले बच्चेको छोड़कर, उसके साथ चली आयी इन्दिरा !

रोशनी दोनों ओर बराबर पड़ती है।

मनुष्य ज़िन्दगी और मृत्यु, दोनोंसे सम्बद्ध प्रश्नोंसे आहत होनेको बाध्य होता है। माँकी मृत्युको झेलनेके बाद भी, माँकी इस शंकाको झेलना शेष ही रह जाता है, कि—"बेटे, कमी कमलामें ही क्यों, तेरी दृष्टिमें भी तो हो सकती है ? घरवाली सिर्फ़ मांससे ही तो नहीं तोली जाती है। घरवालीका वज़न करना हो, तो पलड़ेपर उसके बच्चोंको भी बिठाकर करना चाहिए।"

श्यामसिंहको लगता है, एक जो इतर शरीरके भोगका आकर्षण होता है, वह तो पंजाबसे यहाँतक-की यात्रामें ही रीत गया था। अब तो इन्दिरा भी पत्नी ही हो चुकी है। पूर्व पतिको उसे वापस पाना होता तो कभीका पुलिसमें शिकायत कर चुका होता।.... और अब निबाहनेको शेष रह गयी है एक ऐसी स्थिति, जिसमें दो औरतोंमें भी सिर्फ़ एक पत्नीका बोध ही मुख्य रह जाता है, मगर जीना पड़ता है दोमुँही स्थितियों और मनः-स्थितियोंमें।

आज सबेरे-सबेरे कमलाको देखकर, एक क्षणको ऐसा लगा था, जैसे माँ ही श्मशानसे वापस लौट आयी है। इन पिछले बीस-बाईस दिनोंमें ही, लगता है, यह औरत सिर्फ़ अपने बच्चोंकी माँ रह गयी है—किसी पुरुषकी पत्नी नहीं।

हो सकता है, धीरे-धीरे दोनोंमें समझौतों-से भरी ज़िन्दगी जीनेकी क्षमता आ जाये, एक-दूसरेके प्रति आत्मीयता हो जाये, मगर फ़िलहाल तो ऐसा लगता है, कि दो औरतोंके बीचमें एक ही सम्बन्ध लेकर जीनेकी स्थिति, दोनों आँखोंसे दो विपरीत दिशाओंकी ओर एक साथ देखते हुए जीनेकी स्थिति होती है।

मृतक-कोणमें दोपहरका दीपक सिरहाने जल रहा है।

श्यामसिंह इस समय अकेला लेटा हुआ है। संवेदना प्रकट करनेवाले आकर, जा चुके

हैं। फिर आयेंगे। इस बीचका एकान्त है। कमला दूसरे कमरेमें बच्चोंको सुला रही है। इन्दिरा, शायद, कहीं पड़ौसमें गयी है।

श्यामसिह सोच रहा है, बच्चे तो चारों पिछले साल तक ही हो चुके थे, मगर, इसके बावजूद, जब भी वह छेड़ता था तो कमला उसकी बातों और उसके स्पर्शोंसे ठीक वैसे ही आन्दोलित हो उठती थी, जैसे कोई भी औरत हो सकती है। इस वर्ष इन्दिराको साथ ले आनेके बाद भी, आधे मनसे ही सही, श्यामसिंहने उसे कई बार प्यार करनेकी चेष्टा की थी, मगर हर बार यही लगा था कि उसके स्पर्शोंका सारा सुख कमलाके लिए मर चुका है।

श्यामसिंह जानता है, ऐसा इसलिए नहीं हुआ है कि कमलामें अब यौवन शेष नहीं रह गया है, बल्कि इसलिए कि शायद उसने अनुभव कर लिया है कि अपनी शारीरिकतामें वह पतिके लिए व्यर्थ पड़ चुकी है। यानी वह श्यामसिंहकी उस दृष्टिका आत्मसाक्षात्कार कर चुकी है, जिससे पुरुष औरतोंको शारीरिकताके आधारपर तोलनेकी चेष्टा करता है।

कलकी रात तो माँकी मृत्युकी रात थी!

और दिनों कमला सीधे अपने अलग कमरेमें चली जाती थी और श्यामसिंहको ऐसा लगता था, जैसे वह अपने बच्चोंको बिछाकर सोती है। चारों ओर चार बच्चे। चारों ओरसे किसी भी औरके लिए निषेध।

श्यामसिंहको लगने लगा है, दो विपरीत शारीरिक स्थितियोंवाली औरतोंको किसी एक पुरुषके साथ एक ही सम्बन्धको जीना पड़े, तो दो विपरीत मनःस्थितियोंमें भी जीनेकी अनिवार्यता उनके साथ अपने-आप जुड़ जाती है।

श्यामसिह नहीं चाहता, माँके 'मृतक-कोण'के अन्दर वह यों औरतोंके बारेमें सोचे। मगर सोचनेकी स्थितियोंसे बच सकना कहीं भी, किसी भी स्थितिमें, मनुष्यके लिए सम्भव नहीं हो पाता है।

श्यामसिह इन्दिरासे यह आग्रह नहीं करता, कि वह गोबरकी बाड़के अन्दर आये, उसे स्पर्श करे।....मगर श्यामसिह इन्दिराके बारेमें सोचनेसे अपनेको रोकनेमें असमर्थ है।

इन्दिराके बारेमें बार-बार यह ध्यान आने लगता है कि जितने बनाव-शृंगार और जितनी उन्मुक्तताके साथ रहनेकी वह अभ्यस्त है, उसका यों ही बना रहना कमला और उसके बीच सौमनस्य स्थापित होने नहीं देगा कभी।....और अब जालन्धर वापस लौटना नहीं है। अब तो दोनोंके साथ एक व्यवस्थित गृहस्थ जीवनको जीनेकी चेष्टा करना ही एक मात्र समाधान रह गया है। कमलाके प्रति निरन्तर जो आत्मग्लानि बनी रहने लगी है, इससे मुक्त होना है।

कुछ देर श्यामसिह यों ही पड़ रहा, फिर उसने बड़े बच्चेको पुकार लिया—"घनश्याम ....जो, घना....आँ ...!"

लगा, जैसे कमलाको ही पुकारा है। कमला ही बोली थी—"घना, उठ तो, रे! तेरे बाबू आवाज लगा रहे हैं। जा तो, कहीं पानी तो नहीं माँग रहे?"

श्यामसिंहके कान उधर ही लगे हुए थे, कि इन्दिराकी आवाज भी सुनाई दी, "क्री

चाहिए, जी ?"

श्यामसिंहने देखा, इन्दिराने जूड़ा ऐसे बांध रखा था, जैसे अभी-अभी नहाकर आ रही है। इन्दिरा पहले भी यों ही जूड़ा बाँधती रही है। सलवार-कुरता पहननेकी ही वह अभ्यस्त है और, देह मांसल होनेसे, दुपट्टा डाला हुआ नहीं हो, तो वक्ष अधखुला-सा रह जाता है। इन्दिरा श्यामसिंहके सामने दुपट्टा डालनेकी ज़रूरत, शायद, कभी भी महसूस नहीं करती है।

मगर श्यामसिंह महसूस करता है। एक पुरुष जिसने कभी भी सही, खुद औरतोंको ग़ौरसे देखनेकी कोशिशें की हों, वह महसूस करता है कि उसकी पत्नी या बहू-बेटी दूसरों-के द्वारा वैसे न देखी जाये। एक पुरुष दूसरे पुरुषोंकी प्रवृत्तियोंका सहभोक्ता होता है। वह अपने घरकी औरतोंका अधउघड़ापन भी बरदाश्त कर लेता है, मगर उसी मन:स्थितिमें, जहाँ ऐसा होना उसके लिए आत्मदंशका कारण न बने। ऐसी मन:स्थितियोंमें जीनेके लिए पुरुष एक पूरी संस्कृति या सभ्यताको ओढ़नेमें भी संकोच नहीं करता।

श्यामसिंह संस्कृतिको कवच बनाकर जीने-वाले लोगोंमें नहीं, बल्कि अपनी परम्परागत बन्दिशोंके लिए स्वयंको बाँधकर जीनेवाले लोगोंमें-से है।....और अपनी दृष्टिको बाँधकर जीनेमें पुरुष सिर्फ़ तभी समर्थ हो पाता है, जब वह अपने सम्बन्धोंको बाँधकर जीनेमें समर्थ हो सके। और चूँकि पुरुषके सारे सम्ब-न्धोंके केन्द्रमें सिर्फ़ औरत ही प्रमुख है, इसलिए वह उसे ही बाँधने—सामाजिक अर्थमें मर्या-दित करने—की चेष्टा करता है। करता ऐसा सब-कुछ व्यक्ति सिर्फ़ अपने स्वार्थके लिए है, मगर हरेकका निजी स्वार्थ अन्तत: सामाजिक मर्यादा और संस्कृतिका रूप ले लेता है।

श्यामसिंह—या कोई भी पुरुष—इन सब व्याख्याओंमें न सही, मगर इनके संसर्गमें ज़रूर जीता है।

"तुसीने कुछ बतलाया नहीं, जी ?"—इन्दिरा प्रश्न करती है।

श्यामसिंह अनुभव करता है, कि वह इस समय एक ऐसी अजीब मन:स्थितिमें जी रहा है, जो किसी भी व्यक्तिको उसकी औसत अनुभूतिशीलता और व्यावहारिकतासे कहीं अलग या ऊपर उठा देती है। एक ऐसी मन:स्थितिमें, जिसमें व्यक्ति बहुत-कुछ ऐसा कहनेकी आवश्यकता अनुभव करने लगता है, जिसे वह कहना नहीं चाहता। और बहुत-कुछ ऐसा कह बैठता है, जो उसकी आन्त-रिकतामें-से सीधे बाहर फूट आता है, विवेक और व्यावहारिकताकी छलनियोंमें छन नहीं पाता। ऐसी स्थितिमें, जो-कुछ कहना चाहिए था, जो-कुछ सिर्फ़ सोचा जाना चाहिए था, कहा नहीं जाना चाहिए था—यह सब एक साथ अभिव्यक्ति पाने लगता है....और मनुष्य ऐसेमें अपनेको दर्शन और पागलपनके बीचकी स्थितिमें-से गुज़रता हुआ अनुभव करने लगता है। उसे अपने सोच सकनेके अहम् और अपने बोल बैठनेके असंयमकी एक साथ अनुभूति होने लगती है।

ऐसी मन:स्थितिमें व्यक्ति कुछ कहनेसे पहले ही यह महसूस करने लग जाता है कि

वह बहुत-कुछ कह चुका है।

इन्दिरा अभीतक जैसे प्रश्नका उत्तर पानेकी प्रतीक्षामें ही खड़ी है, मगर श्यामसिंह ऐसा महसूस कर रहा है, कि इन्दिराको अब कोई दूसरा प्रश्न पूछना चाहिए। वह महसूस करता है, कि उसके मौन रह जानेका अर्थ सिर्फ़ यही हो सकता है, कि उसे पानी, चाय या दियासलाई-जैसी किसी भी चीज़की ज़रूरत नहीं है। ऐसी छोटी-छोटी आवश्यकताओंके लिए व्यक्ति उतनी ही आसानीसे कह भी लेता है। श्यामसिंह इन्दिराको समझाना चाहता है, कि जब कोई व्यक्ति बार-बार पूछनेपर भी किसी चीज़की आवश्यकता प्रकट न करे, तो इसका अर्थ सिर्फ़ यही हो सकता है कि वह किसी अनिर्णयकी स्थितिमें-से गुज़र रहा है।....और अनिर्णयकी स्थितिमें से गुज़रता हुआ व्यक्ति अपनेको आत्मप्रलाप करता हुआ-सा अनुभव करता है। उसे लगता है कि जो कुछ वह सोच रहा है, वह दूसरोंको सुनाई दे रहा है।

इन्दिराको भी श्यामसिंहका यह आत्मप्रलाप सुनाई देना चाहिए था, जो खुद उसके लिए भी शब्दहीन ही है, मगर जिसका अर्थ यह सब कहनेकी ज़रूरत महसूस करता होता है, कि—'जालन्धर-टी-हाउस' में बैठा-बैठा मैं तुझे घूरा करता था और तू बच्चेके लिए दूध लेनेको आती थी, तो मैं तुझसे ज़मीनपर रखा हुआ गिलास उठानेको कहता था, ताकि तुझे मैं तेरे पूरे नारीत्वमें देख सकूं। एक ऐसे निरावरण-नारीत्वमें, जिसमें झुका हुई औरतको देखनेपर ऐसा लगने लगता है कि सृष्टिके प्रारम्भमें मनुष्य वास्तवमें पशुओंकी तरह चलता होगा, दोनों हाथ ज़मीनपर टिकाये हुए। सच मान, इन्दर, कि बन्दरीके चलनेमें जो एक खास आकर्षण होता है, वह औरतमें भी सिर्फ़ तभी आता है, जब वह दोनों हाथ नीचे झुका लेती है।....क्यों, चौंकनेकी इसमें क्या बात है? सोचनेके समय हर व्यक्ति निरावरण होता है, अपनी पाशविकता और प्रज्ञा दोनोंमें एकदम अनावृत्त। सिर्फ़ कहनेके लिए मनुष्य अपनी अनुभूतियोंको तरह-तरहके आवरणोंमें लपेटता है। महसूस करनेके लिए मनुष्यको कोई आवरण नहीं चाहिए, सिर्फ़ सुननेके लिए वह आवरणोंकी ज़रूरत महसूस करता है।....और अन्दर-ही-अन्दर बिलकुल निरावरण होकर जीना और बाहर-बाहर आवरणोंकी आवश्यकतासे आक्रान्त रहना—यह स्थिति आदमीको उसकी आदिम और पाशविक सामर्थ्यसे तो विच्छिन्न कर देती है, मगर पाशविक या आदिम प्रवृत्तियोंका निराकरण नहीं करती।.... मेरी हालत भी यही है। मैंने तुझे खुद अपनी पूरी पाशविकताके साथ देखा है, मगर मैं नहीं चाहता कि कोई और भी तुझे जानवरोंकी तरह देखनेकी ज़रूरत महसूस करे।.... और, शायद, हरेक व्यक्ति अपनी पूरी पाशविकता—अपनी आदिम प्रवृत्तियों—के साथ भी वैसे ही जीना चाहता है, जैसे अपनी समग्र तात्कालिक प्रज्ञाके साथ।....और चूंकि मनुष्यके लिए अपनी पूरी पाशविकताके साथ अकेले-अकेले जी पाना सम्भव नहीं हो पाता है—उसमें पशुओंकी-सी समलैंगिकता अवश्य होती

है, मगर समऐन्द्रिकता नहीं होती—इसलिए वह किसी औरके द्वारा भी वैसे जिया जाना बरदाश्त नहीं कर सकता। मनुष्य जानवरोंकी तरह जीनेसे बचनेमें समर्थ, शायद, सिर्फ़ इसीलिए नहीं हुआ है कि और दूसरे लोग मनुष्योंकी—पाशविक और आदिम प्रवृत्तियोंसे मुक्त या कि इनके आत्मदमनमें समर्थ मनुष्यों-की—तरह जी सकें।....बल्कि किसी हद तक इसलिए भी कि कहीं और लोग भी जानवरोंकी तरह जीनेकी कोशिशें न करने लगें।....और चूँकि मनुष्य कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी खुद अपनी ही पाशविक और आदिम प्रवृत्तियोंको अपने लिए अप्रिय और असुविधाजनक अनुभव करने लगता है—कभी अपनी भौतिक-असमर्थता तथा कभी अपनी आध्यात्मिक प्रज्ञाके कारण—इसीलिए वह दूसरोंकी पाशविकताके खतरोंसे भी सावधान रहनेकी ज़रूरत महसूस करता है।

प्रत्यक्षतः श्यामसिंह कुछ कह नहीं पा रहा है, मगर ऐसा-कुछ कहनेकी जरूरत महसूस कर रहा है, कि—सुन इन्दर, जबसे तूने मेरे संग चलनेकी बात मान ली और पहले बसे-बसाये घरको छोड़ भी आयी, तबसे मैं तुझे दूसरी ही नज़रसे देखने लग गया हूँ। अब मैं नहीं समझता कि तुझे फिरसे उसी रूपमें देखूँ, जिसमें तू ज़मीनपर-से गिलास उठाते समय जान-बूझकर दुपट्टा नीचे गिर जाने देती थी।....अरे, इन्दर, इतना हर पुरुष जानता है, कि अपनेको सँभाल सकनेमें औरत हमेशा पुरुषोंसे ज़्यादा समर्थ होती है!....अब तू जान, कह नहीं पाता हूँ कि तेरा दिल दुखेगा, तू मुझे शक्की और कमनियत समझने लगेगी!....मगर यह सोचनेसे तो मैं अपनेको रोक नहीं पाता हूँ कि जितनी आसानीसे तू मेरे साथ चली आयी थी, कहीं उतनी ही आसानीसे किसी दूसरेके साथ भी तो नहीं चली जायेगी? जिस समय तू मुझे मेरे पीठ-पीछे खड़ी होके नहलाती है ना,....और वह स्साला नरोत्तम बैठा होता है, अपने घरके चबूतरेपर, मेरा सारा ध्यान नहानेपर-से हटकर, उसीमें चला जाता है और मैं तेरे आगेको गिरे हुए दुपट्टेको बार-बार हाथ साधकर, पीछेको डालता हूँ। तू मेरे कन्धोंपर-का मैल निकालने लगती है, दुपट्टा फिर-फिर आगेको गिर जाता है।....और उस समय मैं नहाते-नहाते अपनी छाल—अपनी आदमीयतके आवरण—को उतरता हुआ-सा महसूस करता हूँ और नरोत्तम स्सालेको ठीक वैसे ही घूरनेकी इच्छा होती है, जैसे कोई साँड़ दूसरे साँड़को घूर सकता है।....अरे, भाई, मैं स्वीकार करता हूँ, कि अपने हाथोंसे नहला देनेके लिए तुझसे ज़िद मैंने ही की थी, मगर वह ज़िद मैंने इसलिए की थी, कि स्साले गाँववाले और ज़्यादा कुढ़ें। मगर तू न जाने मुझे कैसे नहलाती है, मुझे यही लगने लगता है, कि शायद, मुझसे ज़्यादा आनन्द तो देखनेवालोंको आ रहा है!....और मैं बरदाश्त नहीं कर पाता हूँ।....अरे, तुझे मालूम नहीं है, वह स्साला नरोत्तम, जबसे तू आयी है, तभीसे बड़ा बेचैन-सा दिखाई देने लगा है। माँकी अर्थी उठते समय भी तुझे घूर रहा था। मैं उसी समय स्सालेकी गरदन खींच देना चाहता

था, मगर समाज ज़्यादा बदनाम मुझे ही करता, कि मेरा भी ध्यान माँकी मृत्युपर नहीं, बल्कि तुझपर ही लगा हुआ है! मैं समझता हूँ कि तुझ-जैसी जवान औरतको बिना कपड़े ठीकसे ओढ़े ही ज़ोर-ज़ोरसे हिचकियाँ भरते हुए नहीं रोना चाहिए।....हर जवान पुरुष स्साला ज़िन्दगी और मौत, आसक्ति और वैराग्य, दोनोंको एक साथ ही जी सकनेकी सामर्थ्य रखता है। नरोत्तम स्साला श्मशानमें भी बेचैन हो दिखाई दे रहा था। आज सवेरेसे ही गायब है। उसकी औरत कई बार ढूँढ़ने-पूछने आयी थी। वह बेचारी अपनेको बहुत ढाँककर रखती है। पिछली बार सिर्फ़ एक धोती ही पहने हुई थी, मगर मजाल है, जो मुझे उसकी छातियाँ दिखाई दे जायें!....नहीं-नहीं, इस मृतक-कोणमें बैठे-बैठे ये सब बातें सोचना अच्छा नहीं है।.... और अब तो चूँकि मैं चाहता हूँ कि तू भी ज़रा शरीर ठीकसे ढाँकनेकी आदत डाल ले, इसलिए मेरा यह फ़र्ज़ भी हो जाता है, कि दूसरोंको ढँगसे शरीर ढाँके हुए देखकर खुद किसी तरहका मलाल महसूस न करूँ!

श्यामसिंह इतना-कुछ कहना चाहता था।

श्यामसिंह कह बैठता है—"तुम ज़रा छातियाँ तो ठीकसे ढाँक लिया करो। अब रोज़-रोज़ मुझे दिखानेकी क्या ज़रूरत है।"

किसी छोटी-सी प्रतीक्षामें खड़ी इन्दिरा, इस आकस्मिक आक्षेपसे हतप्रभ हो उठती है। इधर-उधर देखकर, आक्रोशके साथ किसी छोटे बच्चेका पायजामा खींच लेती है और उसे दुपट्टेकी तरह गलेमें डाल लेती है। फिर पूछती है, "तुसीने बताया नहीं, जी? कुछ चा-वा बनानी है क्या?"

श्यामसिंह एकाएक चमक-सा उठता है। अपनी उतनी बड़ी अपेक्षाके समानान्तर, इन्दिराका इतना छोटा प्रश्न? एक पुरुषके पूरे पाशविक और सामाजिक चिन्तनके आगे इतनी छोटी जिज्ञासा? श्यामसिंह कहनेको होता है, "अरे, तेरी तुसी-मुसी गयी भाड़में! कितनी बड़ी बात तो मैं कहना चाहता हूँ, और भैंस, कितनी छोटी अक्लसे काम ले रही है।"

मगर श्यामसिंह कह बैठता है—"नहीं-नहीं, कोई चीज़ नहीं चाहिए मुझे।"

"तो मैनू क्यों आवाज़ लगायी थी, जी?"

हत्त तेरीकी!—श्यामसिंह गुस्सेसे फट पड़नेको हो आता है—आवाज़ लगायी घनश्यामको, चली आयी ससुरी खुद।....और फिर ज़बरदस्ती कहती है, मुझे क्यों आवाज़ लगायी थी? अरे, लगायी थी आवाज़, तेरी....

श्यामसिंह अपनेको सोचनेसे रोकनेकी कोशिश करता है, तो कह बैठता है, "अच्छा, जा, बना ला फिर जो कुछ तेरे जीमें आता हो।...."

इन्दिरा खिसियायी-सी चली जाती है।

श्यामसिंह महसूस करता है कि यह औरत जाते समय कुछ इस तरहसे गयी है, जैसे उसपर व्यंग्य कर रही हो। कहीं अन्दर-ही-अन्दर वह भी तो कुछ ऐसा नहीं सोच रही होगी, कि—क्यों, अब जी-भर चुका क्या? पहले तो यों कहा करते थे तुसी ही, कि ऊँचे गलेका कुरता नहीं फबता मेरेको? और,

ज्जी, मेरा पहरावा ऐसा ही रहा है, मेरा चलना-फिरना ऐसा ही रहा है, कोई मैं जान-बूझके थोड़ी ना फिरती हूँ, कि कोई टुकुर-टुकुर देखे ?····ये तो, ज्जी, कहनेको हो बातें हैं। तुसी क्या ऐसी गल्ल सोचते हो, कि हम जनानियोंमें अपनेको देखने-दिखानेका शौक़ नहीं होना चाहिए था ?····और ज्जी, उमरपर तो जो कुछ होता है, अपने-आप होता है ? कल तक तो तुसी ऐसी कोई बात नहीं कहते थे, ज्जी ? एक ही रातमें बुढ़ापा आ लिया क्या ? होर, ज्जी, आगे क्या बोलूँ, मर्दकी नज़र बदलते तो····

अरे, हाँ, हाँ····कोई देर नहीं लगती !—श्यामसिंह अपने घुटे हुए सिरपर हाथ फेरता है, तो फिर आत्मप्रलाप करनेकी इच्छा हो आती है। श्यामसिंह सोचता चला जाता है यानी इन्दिराको सुनाता चला जाता है, कि—यह मत पूछ, कि एक-एक पलमें आदमीकी नज़रमें कितना फ़र्क़ पड़ जाता है ? तूने कभी यह भी देखनेकी कोशिश की है, कि एक-एक पलमें आदमीकी ज़िन्दगी कितने अलग-अलग तूफ़ानोंमें-से गुज़र जाती है ? अब तू ही सोच, कल सवेरे तूने मुझे स्नान कराया था, यों तो माँकी बीमारीसे अन्दर-ही-अन्दर मैं बहुत दुःखी था, मगर उस नरोत्तम स्सालेको देर तक मुँह धोनेके बहाने मेरे नहाने-नहाने—या कि तेरे मुझको नहलाने-नहलाने—तक बैठा हुआ देखकर, स्साला एकदम गुस्सा उमड़ता रहा मेरे अन्दर।····और खाना खा चुकनेके बाद, अब दोपहरको ज़रा लेटा, तो तूने भी मना नहीं किया।····और फिर तूने देखा ही होगा, कुछ ही घण्टों-बाद माँकी मृत्युसे दुःखी होकर मुझे विलाप करते हुए ? जिन बालोंको दोपहरको तू अँगुलियोंसे फरफरा रही थी उनको उस्तरेसे सीधे नीचे ज़मीनमें गिरते हुए ?

श्यामसिंह शब्द नहीं खोज पा रहा है, मगर ऐसा कुछ कहनेकी आवश्यकता अवश्य अनुभव करता जा रहा है, कि—शायद, तू नहीं समझ सकेगी, कि जब कुछ ही क्षण पहले एक औरतसे शारीरिक आसक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँचा हुआ पुरुष, कुछ ही समय बाद, एक औरतकी मृत्युको भोगता है और शारीरिक-नश्वरताके बोध—अपनी सारी वासनाओंकी व्यर्थताके बोध—को पराकाष्ठाओं-में जीने लगता है, तब उसकी मानसिक स्थिति क्या होती है ? जिस हथेलीसे एक औरतमें अपनी वासनाकी परितृप्ति खोजता फिरता है, उसी हथेलीमें दूसरी औरतकी मृत्युके विद्युत्-प्रवाहको जब पुरुष झेलता है····अरे, भाई, सवाल पत्नी और माँका नहीं, एक औरत दूसरी औरतका नहीं, सिर्फ़ अपनी वासना-क्रान्त शारीरिकता और प्रश्नाहत-अन्तश्चेतनाका होता है, ज़िन्दगीकी उद्दामताके सामनेवाले पलड़ेपर ही नीचेको झूलते हुए मौतके सन्नाटेका होता है····और, हो सकता है, तुझे भी उस समय कुछ ऐसी ही कल्पना हो रही हो, कि जिस पुरुषके साथ तू कुछ ही घण्टे पहले सुध-बुध खोकर सोयी हुई थी, कहीं वही मर गया होता, यों अचानक और उसीका शव तेरे सामने पड़ा होता तो तब तू कैसा अनुभव करती ? मुझे क्षमा करना, मैंने ऐसी ही

कल्पना की थी, कि अगर माँकी जगह तेरी मृत्यु हो गयी होती, तो मैं कैसा महसूस करता ?····यह जो ज़िन्दगी और मृत्युकी संगतिमें एक साथ जीने, शारीरिकता और मानसिकताको एक साथ भोगनेका समग्र मनुष्य-के जीवनमें आता है ना, यही उसकी दृष्टिको बदल देता है।

श्यामसिंह जब सोचनेके लिए शब्द नहीं खोज पाता है, तब कहनेके लिए खोज लेता है—अरे, इन्दर, तू नज़र बदलनेकी बात कह रही है ? कल रात-भर चिता जलती देखी थी—आज दिन-भर इस दीपकको जलता हुआ देख रहा हूँ—एक अजीब श्मशान-वैराग्य मुझे घेर रहा है। अभी तू मेरी तरफ़-को झुकी हुई थी, तो गोबरकी बाड़से इधर तक मैं तेरी छायाको महसूस कर रहा था।···· मगर साथ-ही-साथ ऐसा भी लग रहा था, जैसे मेरे लिए अपने घुटे हुए सिर और किसी भी मांस-पिण्डमें कोई फ़र्क़ नहीं रह गया है।

कुछ कह लेनेके बाद, फिर सोचनेकी स्थिति घेरने लगती है, तो फिर शब्द नहीं मिलते हैं। सिर्फ़ एक अर्थ अनुभव होता है, अपनी शब्द ढूँढ़नेकी असमर्थताके बीच, कि—शायद, तू नहीं जानती होगी, कि पुरुषके लिए मूल्य उसकी आसक्तिके होने, न होने, सामर्थ्यके होने, न होनेका ही मुख्य होता है। उसकी दृष्टि चूँकि उसकी सामर्थ्यपर निर्भर होती है, इसलिए उसके सारे स्पर्श और भोग भी उसकी दृष्टिसे ही निर्दिष्ट होते हैं।····जिस समय तेरे सामने मैंने अपने घुटे हुए सिरपर हाथ फेरा था, उस समय मेरी दृष्टि जरूर बदली हुई थी····और निश्चित है, कि उस समय अगर मैं तेरे स्तनोंको भी छूता, तो मुझे कोई अतिरिक्त अनुभूति नहीं होती।···· क्योंकि मनुष्यकी मन:स्थिति, उसकी दृष्टि और अनुभूतिशीलता उसकी परिस्थितिपर निर्भर होती है, इसलिए श्मशान-वैराग्यकी मन:-स्थितिमें वह किसी औरतकी निरावरण देहको देखकर, ठीक वैसी ही अनुभूतिमें-से गुज़रता है, जैसी अनुभूति उसे खुद अपने या किसीके भी निरावरण हो पड़नेपर हो सकती हो।···· यानी ऐसी मन:स्थितिमें एक घुटे हुए सिरके निरावरण होने या किसी औरतके निरावरण होनेमें कोई खास फ़र्क़ नहीं रह जाता।···· यानी ऐसी मन:स्थितिमें मनुष्य मांस और मांसके बीचके फ़र्क़को महसूस नहीं करना चाहता है।····और जब सिर्फ़ एक श्मशान-वैराग्यकी मन:स्थितिमें मनुष्यका यह हाल हो जाता है, तो एक साथ ही—एक ही क्षणमें—ज़िन्दगी और मृत्युसे जुड़ी हुई अनेक मन:-स्थितियोंमें जीनेवालेको कितनी आन्तरिक दुर्दशा भोगनी पड़ती होगी ? अपनी वैयक्तिकता और सामाजिकता, अपनी शारीरिकता और अपनी मानसिकता—अपनी आदिम प्रवृत्तियों और सांस्कृतिक प्रज्ञा—इन सारी मन:-स्थितियोंमें एक साथ जीनेके क्षणोंमें मनुष्य क्या हो जाता होगा ? दार्शनिक या पागल ? चिन्तनीय या हास्यास्पद ?

श्यामसिंहको लग रहा है, कि दोपहरकी सारी उदासी और बेचैनी उसे बुरी तरह घेर रही है। वह कमला और इन्दिराको एक साथ

आवाज़ लगाना चाहता है। वह कहना चाहता है, कि—'सुनो, चारों दिशाओंको जानेवाले रास्तोंपर कोई भी आदमी एक साथ नहीं चल सकता—मगर जिस चौराहेपर-से ये सारे रास्ते फूटते हैं, वहाँ ज़रूर खड़ा रहा जा सकता है। दो विपरीत दिशाओंमें चलती हुई औरतों-को लेकर निरापद और निश्चिन्त रहकर जी सकना किसीके लिए भी सम्भव नहीं है, मगर ऐसी मन:स्थितिको जी सकना सम्भव ही नहीं, दुर्निवार है, जिसमें आदमी ऐसा महसूस कर सके। ऐसा, यानी दो विपरीत दिशाओंमें एक साथ देखनेकी चेष्टा।

श्यामसिंह कहनेकी आवश्यकता अनुभव करता है, कि—जैसे चौराहेपर ज़िन्दगी-भर नहीं रहा जा सकता, वैसे ही अनेक परस्पर-विरोधी मन:स्थितियोंसे घिरी एक स्थितिमें भी सिर्फ़ कुछ क्षणोंको ही रहा जा सकता है, पूरे समय-भरको नहीं।

श्यामसिंह इन्दिराको आवाज़ देना चाहता है, कि—सुनो, दसवें दिन इस मृतक-क्रोड़से मैं बाहर निकल आऊँगा और तेरहवीं-को यह दोपहरको जलता हुआ दीपक बुझा दिया जायेगा। बहुत सम्भव है, तबतक माँ-की मृत्युके दुःख और अपनी आत्मग्लानियों-में-से मैं भी कुछ बाहर निकल आऊँ? और तब मुझे चौराहेपर खड़े व्यक्तिकी नहीं, कोई एक रास्ता चुनकर चल पड़नेवाले यात्री-की भूमिका निबाहनी होगी। सामाजिकता-का सबसे बड़ा लाभ यही है, कि वह इस तरहकी सुविधा देती है। एक ऐसे समयको छाँटनेकी सुविधा, जिसमें मनुष्य एक निरापद ज़िन्दगीको जीनेकी कोशिश कर सके!....मैं भी यही चाहता हूँ।....मैं सोचता हूँ, कि जो औरत कभी मेरी माँकी तरह ही प्राण त्याग कर, अपने सामने खड़े पुरुषको एक नितान्त लघु आकृतिके रूपमें खींच ले जा सकती है.... और जो औरत मेरी छोटी बच्ची मुन्नीकी तरह एक पुरुषको पिताके रूपमें इतना बड़ा बना सकती है, कि वह उसे ठीक वैसे ही देखता रह जाये, जैसे कोई हाथी अपनी पीठ-पर बैठी हुई छोटी-सी चिड़ियाको देखता है.... ऐसी औरतको उसके सिर्फ़ एक ही रूपमें देखना ठीक नहीं है।....तुम्हारी दीदी कमला-ने मुझे पत्नी, माँ और बच्चीके तीनों रूप दिखा दिये हैं—तुममें भी यही रूप देखने हैं।...यानी साफ़ बात है, भाई, मैं इन दार्शनिक और पागलोंकी-सी तमाम मानसिक दिग्भ्रान्तियोंसे मुक्त होकर एक साधारण गृहस्थकी ज़िन्दगी चुनना चाहता हूँ।....

इन्दिरा चाय बनाकर ले आयी है।

सौतेले बेटे घनश्यामका पायजामा उसके पीठकी ओर ज्यों-का-त्यों लटका हुआ है।

श्यामसिंहको लगता है, उसे कुछ कहना चाहिए। वह कहना चाहता है, कि—'तुमने जो उम्र-वुम्रकी बात कही थी ना, वही ज्यादा ठीक है। तुम्हारी दीदी कमला है ना, कल नरोत्तमके चबूतरेपर बैठी छाती उघाड़े हुए छोटी बच्चीको दूध पिला रही थी, मगर बुरा नहीं लगता था। कोई आशंका नहीं व्यापती थी। दरअसल, मनुष्यके लिए मूल्य प्रतिक्रियाओंका ही ज्यादा होता है और वह अपने ऊपर हुई प्रतिक्रियाओंसे ही दूसरोंपर

होनेवाली प्रतिक्रियाओंका लेखा-जोखा लगा लेता है ।''''अरे, भाई, दो-चार सालमें तुम भी इसी तरह खुलेमें बच्चोंको दूध पिलाने लग जाओगी, तो औरोंकी आँखोंको उदासीन देखकर, मैं भी निःशंक रहने लग जाऊँगा ।

इन्दिरा बोली—''जी, तुसी कुछ नाराज़ दिखते हो आज ?''

''अरे, नहीं-नहीं !''—श्यामसिंह हँसने-की चेष्टा करता हुआ बोला—''तुझ-जैसी समझदार औरतसे भला कोई नाराज हो सकता है ? जा, तेरी कमला दीदी उधर सोयी हुई है, उसे भी चाय दे आ । छोटी मुन्नीको इधर ले आना । मेरे सामने बिठाकर, उसे थोड़ी 'हट्टा-घोड़ी' करा देना ।''''आज जी बहुत उदास लग रहा है । तूने चाय पी ली, या नहीं ?''

Gram : MATACANTOS
CALCUTTA.

Telephone :
OFFICE : 22-3226
RESI : 55-2620

Asutosh Mookerjee & Co. Private Ltd.

12, RAJA WOODMUNT STREET,
CALCUTTA-1.

Importers & Manufacturers of :
WIRE ROPES, CHAINS LIFTING ACCESSORIES,
WAGON FITTINGS & MARINE STORES ETC.

Agents for :
LIFTING ACCESSORIES
S. TURTON & CO., LTD., BIRMINGHAM.

Workshop :
22, RAMLAL MOOKERJEE LANE,
SALKIA, HOWRAH.

'होटल
निव ।'जाब' का—
उद्घाटन-संगोष्ठी

—शरद जोशी

(शरद जोशी : पहली
रचना—१९५३)

श्री छाया-द्वारा विषय-प्रवर्तन

श्री छाया : मैं नहीं मानता कि कोई होटल पंजाब हो सकता है, या वह 'निव' या नया भी हो सकता है। होटल सिर्फ़ होटल होता है। इसे 'निव पंजाब होटल' कहना ग़लत होगा। अपने ऐतिहासिक सन्दर्भके कारण होटल अब एक ठिठका हुआ, ठहरा हुआ-सा शब्द बन गया है। 'निव' शब्दसे उसमें गति नहीं आती, वह होटल ही रहता है। जिस नगरमें यह होटल स्थित है उसके अपने प्रभाव हैं और चूँकि यह नगर पंजाबमें नहीं है अतः वे प्रभाव भी बड़ी हदतक ग़ैर-पंजाबी अथवा एण्टी-पंजाब या अपंजाब हैं। यह भ्रम व्यर्थ है कि नगरके अपने सांस्कृतिक प्रभावोंको नकारते हुए इस होटलको पंजाब किया जा सकता है। 'निव' अथवा 'नव' शब्दके जो अर्थ हैं इससे पंजाबका कोई सम्बन्ध नहीं। आज सब इकाइयाँ एक दूसरेसे जुड़ गयी हैं। पंजाब शब्द सिर्फ़ सुविधाके लिए है पर वह एक असुविधा भी उत्पन्न करता है। महानगरके आधुनिक एवं समसामायिक परिवेशमें ऐसे शब्द अर्थकारी नहीं होते।

श्री शुकुल : मेरे मित्र श्री छायाने 'निव पंजाब होटल' के सम्बन्धमें जो बात कही उससे मैं असहमत हूँ। नाम सिर्फ़ नाम होते हैं इसके अतिरिक्त वे कुछ नहीं होते। वे धीरे-धीरे एक सार्थकता ग्रहण कर लेते हैं या कहिए, वे अधिक अर्थवान् हो जाते हैं। होटल एक विशिष्ट सुविधाका पर्याय है, 'पंजाब' से उसकी गरिमा बढ़ जाती है। पंजाब शब्द एक ओर गौरववाची है तथा साथ ही भोजनके एक विशिष्ट प्रकारसे, जिसका पंजाबसे सम्बन्ध है, अपनेको बाँधता है। नामकी निरर्थकता समझते हुए भी मैं यह मानता हूँ कि इस बार 'पंजाब' का होटलके साथ जुड़ना स्वयंमें महत्त्वपूर्ण है। 'निव' द्वारा होटलने आधुनिकताकी आत्मा ग्रहण की है। पंजाब

होनेके बावजूद 'निव' होना होटलकी नियति है। इस युगमें जो निव नहीं है वह टिक नहीं सकता। मनुष्य बदल रहा है, होटल बदल रहे हैं, हमारे सारे मूल्य बदल रहे हैं। हर होटल 'निव' होनेके लिए अभिशप्त है। 'निव' होना एक अनिवार्यता है क्योंकि ग्राहक भी 'निव' हो रहा है। मैं इस नाममें एक आत्मा देख रहा हूँ।

श्री आज़ाद : मुझे कहनेमें सख्त अफ़सोस आता है कि बातको शुरूसे ग़लत समझा जा रहा है। 'निव' जो शब्द है, वह जो एक शब्द है 'निव', सो शुक्लजी मुझे माफ़ करें, मैं तो जो समझता हूँ वही कहूँगा, कि जो शब्द है 'निव', वह होटलके लिए नहीं है। वह तो जी, पंजाबके लिए है। आज़ादी आयी मुल्कमें तो पंजाबके दो हिस्से हो गये सो आपको मालूम ही होगा। तो साहब, अब जो पंजाब है जो नया बन रहा है वो ही अब असली पंजाब है। जिसमें भाखरा-नांगल हैं और कई-कई चीज़ें हैं। तो यह जो होटल है 'निव पंजाब होटल', मैं दीनानाथजीकी तारीफ़ करूँगा कि वे इस होटलको तैयार करनेमें बड़ी मेहनत की, बड़ा खर्चा भी किया और बड़ा 'शो' दिया इसको, तो यह जो 'निव पंजाब होटल' है यह तो नये पंजाबका होटल है, पुराने पंजाबका नहीं। यही मेरा ख़याल है और अगर मैंने कोई ग़लत बात कही हो तो आप मुझे माफ़ करेंगे। बस मेरा यही कहना है।

श्री प्रदीप : श्री आजादने बहुत सहज रूपसे कह दी है पर वे अनजाने ही संगोष्ठीको नयी दिशा दे गये हैं। 'निव' शब्दको लेकर आज बड़ा हल्ला है। पंजाबके आगे 'नया' शब्द लगना तो समझा जा सकता है पर होटलके आगे 'नया', या कविता या कहानीके सामने यह शब्द बेमानी है।

अध्यक्ष (टोकते हुए) : आप विषयपर ही रहें तो उचित होगा। कहानी या कविता बीचमें न लायें।

श्री प्रदीप : मैं विषयपर ही हूँ जी! तो मैं कह रहा था कि आज 'नये' का बड़ा हल्ला है। हर चीज चाहे वह कितनी ही पुरानी हो अपनेको नयी कहलवाना चाहती है। मेरा एक प्रश्न है कि क्या नगरमें जो दूसरे होटल हैं वे नये नहीं हैं? इस दशकमें जो होटल खुले हैं उनके अलावा जो पूर्वके हैं वे किन अर्थोंमें पुराने हैं। वह भी इतने ही नये हैं जितना कि 'निव पंजाब होटल'। क्या सिर्फ़ कुछ वर्ष पूर्व खुलनेके कारण वे पुराने हो गये हैं? या क्या यह 'निव पंजाब होटल' कुछ वर्ष बाद अपनेको ओल्ड पंजाब कहाना स्वीकार करेगा? मेरा यह प्रश्न है। वास्तविकता यह है कि अपने-अपने समयमें सब होटल 'नये' थे। 'राम भरोसे हिन्दू होटल' अपने समयमें नया था। समयके साथ ही हर नयी बात इतिहास हो जाती है।

श्री ईश्वरदास : देख रहा हूँ बहसमें काफ़ी गरमी आ गयी है। यह प्रसन्नताकी बात है कि हम विषयके प्रति गम्भीर दृष्टिकोण अपना रहे हैं। हमारी पीढ़ी मन्दिरों, घाटों या अपने परिवारोंतक सीमित रहनेवाली पीढ़ी नहीं है। हमारी पीढ़ी फ़ुटपाथों और होटलों और कॉफ़ी-हाउसोंमें विकसित होती पीढ़ी है। हम

एक नवीन केण्टीन परम्पराका निर्माण कर रहे हैं जो हमारे समयकी आर्थिक और सामाजिक वास्तविकताओंकी उपज है। हम अपने जीवन-को 'होटल-भोग' कह सकते हैं। निव पंजाब होटलके पुराना होनेका प्रश्न नहीं उठता। होटलोंकी अपनी परम्परासे सम्बन्ध रखकर, उसकी आत्माको स्वीकारते हुए, बदलते समय-के अनुरूप, निरन्तर गतिशील रहकर ईमान-दारीके साथ यह होटल सदैव 'निव' रह सकता है। अपने 'पंजाब' को सुरक्षित रखते हुए भी यह नये युगमें खुदकी 'निव'ताका निर्वाह कर सकता है। यह 'निव' होनेके लिए कमिटेड है। यह 'निव' होनेके लिए उतना ही कमिटेड है जितना पंजाब होनेके लिए। एक बात और कहूँगा कि अभी किसीने कहा कि पंजाब इसमें एक गौरववाची शब्द है। गौरववाची शब्द अवश्य है पर उन संकीर्ण अर्थोमें नहीं। पंजाब शब्द एक विशिष्ट भूभाग, एक संस्कृति, एक भोजन-प्रणालीका प्रतीक-भर है पर वह अन्य भूभाग, अन्य संस्कृति या भोजन-प्रणालीका विरोधी नहीं वरन् सहयोगी है। इसे संकीर्ण अर्थोमें लेना अनुचित है।

श्री जीवनजी : जहाँतक नयेकी बातका सवाल है वह उठ रही है। सिर्फ़ होटलोंके क्षेत्रमें ही नहीं अन्य क्षेत्रोंमें भी उठ रही है। भारतमें ही नहीं अन्य देशोंमें भी उठ रही है। प्रश्न यह है कि इससे डरना क्या। जो पुराना है वह तो खत्म होता ही है और जो नया है वह आगे आता है। यह तो सनातन नियम है, चला आता है। आज नहीं पहले भी था। पर आज कुछ लोग नयेका बिल्ला लगाये घूमते हैं। कुछ उनका विरोध करते हैं। क्या वजह है। मैं जहाँतक समझा हूँ इसका कारण व्यव-सायकी टक्कर है। एक होटल है तो साहब, दूसरेने यह तख़्ती लगा दी कि जी, यह नया होटल है। ग्राहकको तो खाना चाहिए और ऐसा खाना कि जिसमें पेट भी भरे, मज़ा भी आये। जिसे जहाँकी चाट लग जाती है वहीं जाता है। अब कुछ ऐसे हैं जिनके पास अच्छा खाना नहीं है तो वे ऊपरी टीमटामपर जोर देते हैं ताकि लोग खिचकर आयें। उसीके अन्तर्गत वे अपने नामके आगे 'नया' या 'निव' लगा देते हैं। मेरे खयालसे यह सिर्फ़ व्याव-सायिकता है और कुछ नहीं। मैं 'नये'में कोई सिद्धान्त नहीं देखता।

गोष्ठीका समापन करते हुए श्री दीपनारा-यण नारंगने कहा : जीवनजी वयोवृद्ध हैं और हम उनका आदर करते हैं। इस शहरमें रामजीकी होटल सबसे पहले खुली और शहर-के जवान लोगोंने पहली बार हिम्मत कर वहाँ जाना शुरू किया। बादमें जब होटल खूब चली तो रामजीने भोजन भी देना शुरू किया। उसके बाद रामजीसे ही हिम्मत पाकर शहरमें तीन होटल और खुले जिनमें एक हमारे जीवन-जीका था। शहरकी ज़िन्दगीमें रामजीकी होटल बन्द होनेके बाद इन तीनों होटलोंका बड़ा हल्ला था। जीवनजीकी होटल हमेशा शाकाहारी रही और शहरके सब काँग्रेसवालों-का अड्डा बन गयी। उसी वक़्त जो बाक़ी दो होटल थीं उसमें एक कम्युनिस्टोंका अड्डा बन गयी और तीसरीपर कॉलेजके लड़के-लड़की जाते, जिनको किसीसे लेना न देना। जीवनजी-

की होटल खूब चली और आज भी चल रही है। मगर अब चर्चा चल ही गयी है तो मैं कहूँगा कि आजसे दस-पन्द्रह बरस पहले जीवनजीकी होटलमें जो खाना मिलता था, अब नहीं मिलता। अब सिर्फ़ नाम और प्रचार रह गया है। जीवनजी किसी तरह होटल खींच रहे हैं। अब जब कोई नया होटल खुलता है तो जीवनजी-जैसे लोगोंको बुरा लगता है। मैं कहता हूँ इसमें बुरा लगनेकी क्या बात है। जब जीवनजीने होटल खोला था तब रामजीने बुरा नहीं माना था पर आशीर्वाद दिया था। अब जब नये होटल खुल रहे हैं तो जीवनजी-को भी बुरा नहीं मानना चाहिए। दिनपर दिन शहर बढ़ रहा है। बाहरसे लोग आते हैं और कहते हैं, भई, शहरमें आपके कोई होटल भी नहीं है जिसमें ठीक खाना मिले। शहरकी नाक कटती है। दीनानाथजीने होटल खोलकर शहरकी शान बढ़ायी है। जिन साहबानको पसन्द न हो वे अपने घर रहें। यह होटल 'निव' है और 'निव' रहेगा। अभी ईश्वरदासजीने ठीक कहा कि अगर दीनानाथ-जी चाहें तो इस होटलको हमेशा 'निव' रख सकते हैं। मैं दीनानाथजीसे कहूँगा कि वे इस होटलको अपनी मेहनतसे और अक़लसे काम लेकर हमेशा 'निव' बनाये रखें। देखें कोई क्या बिगाड़ लेता है। जमाना बदल गया और अब पुराने हलवाइयोंकी दाल नहीं गलनेकी। बस। जीवनजीको बुरा लगा हो मुझे क्षमा करें।

अध्यक्ष : बड़ा आनन्द रहा। काफ़ी बातें हो गयीं। समय बहुत हो चुका और अभी दीनानाथजीकी तरफ़से उद्घाटनके इस अव-सरपर कुछ चाय-नाश्तेका भी इन्तजाम है। मैं आपकी राहमें क्यों रोड़ा बनूँ। (हँसी) एक बात फिर भी कहना चाहूँगा कि भैया 'नया' हो या पुराना होटल—सवाल यह है कि कौन अपनी जगह ठीक रहा है। छोटा-सा होटल हो पुराना या नया हो, मॉडर्न हो, सवाल यही है कि आप कैसा माल बना रहे हैं और ग्राहकको क्या दे रहे हैं? जो आजसे पच्चीस साल पहले सड़ा आटा और नक़ली घी खिलाते थे वे कितने ही प्रतिष्ठित हो जायें और अपनेको अनुभवी कहें, उसका कोई मतलब नहीं। और अगर आप मॉडर्न होटल खोले हैं और आपके इरादे नेक नहीं हैं, माल खराब है, सर्विस खराब है तो आपका फ़र्नीचर बेकार है। गुज़र गये वे ज़माने जब कहते थे कि सब अपनी क़िस्मतका खाते हैं। अब तो कहते हैं कि सब अपनी मेहनतका खाते हैं। जिनकी मशहूरी है, नाम बड़ा है वे अगर सिर्फ़ इसी वजहसे मेहनत नहीं करते तो भैया, उनकी दुकान ज़्यादा नहीं चलेगी। यह बात मैं सबको कहना चाहूँगा। और आजकी बहस अच्छी हुई—बातमें बात निकली और खूब निकली। अब दीनानाथजी आभार-प्रदर्शन करेंगे और 'निव पंजाब होटल' के उद्घाटनकी यह संगोष्ठी हम समाप्त कर रहे हैं।

श्री दीनानाथजी : आप सब लोगोंने यहाँ आनेकी तकलीफ़ की उसके लिए मैं आभारी हूँ। अभीकी बात सुनकर मुझे यह समझ आया कि कुछ लोग होटलका नाम 'निव

पंजाब होटल' से बदलकर कुछ और करना चाहते हैं। मेरा निवेदन है कि इसमें मेरा बड़ा सरफ़ा हो चुका है, मैंने नामकी पब्लिसिटी भी करा ली है तो अब नाम तो बदलना मेरे लिए मुश्किल होगा। बोर्ड बन गया है और अब नया रँगवाना कठिन है। और दूसरी गुज़ारिश यह थी कि अभी कोई सज्जन कह रहे थे कि होटल बदल रहे हैं तो मूल्य भी बदल रहे हैं, तो मेरा निवेदन है कि मूल्य नहीं बदल रहे, जो रेट सब होटलोंके हैं वे ही मेरी होटलके हैं। मूल्य क्यों बदलेंगे साहब ? वही मूल्य रहेंगे। बस मैं आप सबका फिरसे आभार मानता हूँ कि आपने कष्ट किया। आप भविष्यमें भी ऐसी ही कृपा करते रहेंगे। धन्यवाद !

■ ■

Phone : 25-2227

Universal Fire & General Insurance Company Limited

Transact :

Fire, Motor, Marine, Personal Accident, Fidelity, Guarantee, Burglary and all other forms of Miscellaneous Insurance Business.

Universal Insurance Building,

Sir P.M. Road, Bombay-1.

Chairman & Managing Director :

P.U. PATEL, B.A., B.COM. (Lond).

शिवप्रसाद सिंह
की नयी कहानियों का
नवीनतम संग्रह

मुरदा सराय

शिल्प और कथ्य दोनों ही दृष्टियोंसे बिलकुल नयी बारह कहानियाँ। पढ़नेके बाद प्रत्येक कहानी मनपर एक सार्थक प्रभाव भी छोड़ेगी।

मूल्य : ४.००

इसी मास प्रकाशित

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय

९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय-केन्द्र

३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

दिलचस्पी

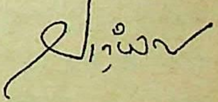

[ज्ञानरंजन : पहली
रचना : १९५६]

■

बिलकुल तड़का है। बगीचेकी तरफ़ खुलनेवाली खिड़कीके शीशोंको रातकी ठण्डक ओस बनकर धुँधला कर चुकी है। धुँधला नहीं, अन्धा। वह बहुत जल्दी जाग गया है जब कि सब अभी सोये हैं। उसने एक बार फिर सोचा और इस सच्चाईको अन्दर ताजा किया कि वह हमेशा देरसे सोकर उठनेवाला होकर भी कमसे कम उस पहले दिन, केवल पहले दिन, ज़रूर तड़के उठ जाया करता है, जब कभी किसी बिलकुल नये शहरमें जाता है अथवा लम्बा समय गुजर जानेके बाद छुट्टियोंमें घरवाले शहरमें आना होता है।

दरवाज़ा खोल सर्दीसे अपनेको सिकोड़ती और शरीरसे अधिक दोनों भुजाओंको आपसमें वक्षपर दबोचती हुई जीजी आयीं और आश्चर्य प्रकट करने लगीं—"ओहो, भैय्याजी हैं। इतनी जल्दी कबसे उठने लगे हैं आप जनाब?"

वह मुसकराने लगा। उसने पाया, जीजी विवाहके बाद तुला हुआ और शैलीयुक्त बोलने लगी हैं। वर्षों इस घरमें रहीं, कोई खास लहजा नहीं था

उनमें, साधारण थीं। इधर थोड़े-से अरसेमें ही अकेले पतिने उन्हें कितनी स्टाइल दे दी। तब तक माँ, नमिता, प्रकाश सब आ गये।

सामने एक साफ़-सुथरी पगडण्डी है, जैसी अकसर बरसातोंमें बन जाया करती है और फिर जाड़ों-भर बनी रहती है। बँगलेके अन्दर पगडण्डी। किसी बहुत बड़े शहरमें त्वरित गतिसे चलनेवाले लोगोंसे भरी सड़कपर एक धीमा बिसातखानेका ठेला देखकर जो लग सकता है, वैसा उसे लगा। दोनों तरफ़ मोटी हरी घास थी और विभिन्न क़िस्मके उठते हुए पेड़।

उसने सामबहादुर और क्वार्टरमें जो नये लोग आ गये हैं उनकी बाबत उत्सुकता प्रकट की। माँकी उम्र बहुत है फिर भी वही पहले बोल पड़ीं—"सामबहादुर फ़ौजमें चला गया है मुकुल, और अब घरमें कामकाजकी बहुत दिक़्क़त हो गयी है। और हाँ, तुम नहीं जानते होगे, सामनेके घोष बाबू बेचारे गुज़र गये। बड़े भले आदमी थे, राम-राम।" थोड़ा-सा अफ़सोस प्रकट करता हुआ अन्तराल, फिर—"काली बाबूका मकान सिन्धियोंने खरीद लिया और सामबहादुरका क्वार्टर भी थोड़ी मरम्मतके बाद मकान-मालिकने उठा दिया है। ये नये किरायेदार बड़े अच्छे लोग हैं बेटे! बस, प्याज़-लहसुन बहुत खाते हैं।" इस बातपर सब बुरी तरह हँस पड़े।

माँने बताया, वे लोग उसे देखनेको बहुत उत्सुक हैं। श्रीमती जोशी कहती थीं, आपके सब बच्चे देख लिये, बस मुकुलको नहीं देखा। इसके बाद माँने अपने सामनेके बच्चोंको फिरसे देखा। एक आवश्यकतासे भरी दृष्टि-में—"कई बार पूछ चुकी हैं, छुट्टियाँ कबसे हैं? वन्दना तो दिन-भर यहीं पड़ी रहती है! इस समय चाय तुम्हारी उन्हींके घरपर है।" वह चायके लिए हिचकता-हिचकता पहुँचा। अब यह सामबहादुरका क्वार्टर नहीं है। वह खिड़कीकी तरफ़ आईनेमें चेहरा देख रही थी। एकदम घबरा-सी गयी। उसने आईना तुरत पासके बिस्तरेपर फेंक दिया। घबड़ाहट-के स्थानपर अब झेंप उसके मुखड़ेपर थी। उसने उसे चले आनेके लिए कहते हुए अन्दर-ही-अन्दर हिम्मत बाँधी होगी। बैठते हुए वह सोचने लगा, वन्दना तो शीशा देखते हुए पकड़ी जानेपर सकुच, घबरा गयी—यह बहुत कॉमन है। अकसर लोगोंको शीशा देखते हुए पकड़े जानेपर, एक अपराधका-सा अनुभव होता है। उसके ही घरमें श्रृंगारदान केवल शो-पीस है। घरके लोग खुलकर सजते हुए कभी नहीं मिलते। सजते हुए मुक्त लोग उसने केवल ग्रीन-रूममें देखे हैं।

अन्दर काँचके बरतनोंके बजनेसे चायकी तैयारीका आभास मिलता है। अकेले बैठा दिये गये अतिथिको ये आवाज़ें प्रमुख होकर सुनाई पड़ती हैं। वह कमरेको देखने लगा। अन्दर शायद किसीने फुसफुसाते हुए ढकेला तो श्रीयुत जोशी कमरेमें आकर उनके सामने बैठ गये और महज़ परस्पर अभिवादनके बाद अन्दरसे साथ लाये अख़बारमें मशगूल हो गये। वह सोचने लगा, सुबह बच्चों और औरतोंके सूखते कपड़े देख, इस क्वार्टरको एक आसान-सा परिस्तान कल्पित करके मज़ाक़िया तौरपर

ही वह जो खुश हुआ था उसपर अब हँसा जा सकता है।

अन्दरको व्यर्थ और समाप्त कर देती हुई चाय आयी और उसके साथ पूरे घरकी एक छोटी-सी दबी भीड़। अभी वह अकेला था और अब बेपनाह घिर गया है। मधुर-मधुर गृहिणी, आग्रहयुक्त। शुरूमें ज़रा परेशान-सा हुआ। अब सोचने लगा, कभी वह गुजरात ज़रूर जायेगा, वहाँ भी लोग ऐसे ही होते हैं क्या? यद्यपि यह निश्चित है, गुजरात-वुजरात क्या जायेगा और कभी गया भी तो उस समय इस तरह नहीं सोच सकेगा।

श्रीमती जोशीकी छोटी-सी प्यारी बच्ची-जो सम्भवत: उनकी आखिरी सन्तान लगती थी और जिसके बारेमें उसने पता नहीं क्यों सोचा कि ईश्वर, यह उनकी आखिरी सन्तान ही रहे—उसके ऊपर लगभग चढ़-सी आयी। बोली, "आप पहाड़पर रहते हैं न अंकल? आपको बर्फ़में सर्दी नहीं लगती क्या?" उसे लगा, यहाँ सब उसके बारेमें जानते हैं। और शायद नहीं भी जानते। जैसा उत्साहपूर्ण आदर-सत्कार उसका है, उससे यही पता चलता है।

श्रीयुत जोशीका चेहरा गुमसुम है। और साफ़ पता लगता है, उनका यह गुमसुमपन स्थायी और स्वाभाविक है। वे केवल इतना कहकर चुप हो रहे कि "इस बार बरफ़ जल्दी पड़ेगी, अखबारमें आया है।" लगता था, उनके सब बच्चे चाहते हैं कि वे और बोलें ताकि वातावरणमें उनके कम बोलनेसे जो बुज़ुर्गी अधिक छा गयी है वह कम हो सके। उन लोगोंको भी बोलनेकी ताक़त मिल सके। अधिक मज़ा तब रहे जब वे मुकुल भाईसे पहाड़की ही बात करें जिसमें क़िस्सेका-सा मज़ा आये।

"तो मैं क्या कर सकता हूँ, बर्फ़ जल्दी गिरनेका ताल्लुक़ मौसमसे है, मुझसे नहीं," वह कहना चाहता था। लेकिन उसने कहा इसके बिलकुल विपरीत, "जी हाँ, पहाड़पर भी लोग ऐसा ही कह रहे थे।"

चाय पीते समय इसके बाद और कुछ बातचीत नहीं हो रही है। सिवाय ठूँस-ठूँसकर खिलानेके आग्रहके। लोग उसे घेरे हुए हैं, घूर लेते हैं और चुप रहनेके कारण अन्दर-अन्दर, लगता है, टँगे हैं। वह बुरी तरह फँसा महसूस करता रहा और खोझता रहा, पहाड़पर क्या, गोया जन्नतमें रहता हूँ!

आते वक़्त श्रीमती जोशीकी छोटी बच्ची एक हलकी गरिमा-भरी मचलनमें बोली, "अंकल, आपने पहाड़ोंपर बर्फ़में रहनेवाली परियोंकी कहानी हमें नहीं सुनायी? कब सुनायेंगे?"

प्रश्नका उत्तर टालनेके लिए उसने पूछा, "अच्छा बताओ, तुम्हारा नाम क्या है?"

"नहीं-नहीं, आप पहाड़की परियोंकी कहानी सुनायें तभी हम नाम बतायेंगे!" इस बार उसकी मचलनमें थोड़ी ज़िद भी शामिल थी।

लौटकर उसने छुपके अपनेको शीशेमें देखा कि वह वन्दनाको, श्रीमती जोशी और सबको थोड़ी देर पहले कैसा लगता रहा होगा! उसने कई बार कई जगह विभिन्न कोणसे

अपने चेहरेका प्रतिबिम्ब आँका। वह थोड़ा असन्तुष्ट रहा। उसे लगा, वह चेहरा जो थोड़ी देर पहले वह श्रीयुत जोशीके घर लेकर गया था फ़िलहाल गुम गया है।

"आप कितने भाग्यशाली हैं मुकुल भाई, पहाड़ोंपर रहनेको मिला है!" वन्दना अपने-आपको निराश करती हुई चुप हो गयी। यह मुकुलके प्रति उसका पहला सीधा और नज़दीकी वाक्य है। साफ़ पता लगता है, वह मुकुल भाईके उच्चारणमें ज़रा भी हिली नहीं। इसके बाद और भी कई वाक्य थे, लगभग इसी प्रकृतिके। अभी उसने खुदको सुनाते हुए-सा कहा, "हम लोग तो सिविल लाइन जानते हैं और चौक, बस। एक बार जब छोटे-से थे तो सुना करते हैं, कानपुर गये थे।"

नवम्बर जो प्रायः बहुत स्फूर्तिदायक और चटख होता है, काफ़ी गीला और ठण्डा है। सिहरन पैदा करनेवाले सफ़ेद डबडबाये बादल आकाशपर जमने लगे हैं। दरअसल, नवम्बर दिसम्बर सरीखा तेज़ हो गया है। उसने पिछली लू-लपट-भरी कठोर और गरम दुपहरोंको सरपट ढंगसे अनुभव किया और अभी-अभी पहाड़ोंके सम्बन्धमें अन्दर पैदा हो गये चिड़चिड़ेपनको उचित माना।

वन्दनाने किसी फ़िल्मका नाम लिया और बताया, जहाँ वह रहता है उसके चारों तरफ़के पहाड़ोंमें ही कहीं उसके अनेक दृश्योंकी शूटिंग की गयी है—"आपने वह सब देखा होगा, कुछ भी छोड़ा नहीं होगा। आपके तो मजे हैं और फिर आप शौक़ीन भी तो हैं," वह साथ, बोलती और मुसकराती रही।

वह उसे इस तरह देखती रही ज्यों वह एक सामान्य आदमी नहीं, दृश्य है—ऐसा पहाड़ी दृश्य जिसकी पृष्ठभूमिमें फ़िल्मकी शूटिंग हो रही है। उसे, वन्दनाके देखनेके इस तरीक़ेमें हलकी व्यर्थता महसूस हुई। कई दिन वन्दनाने उसे देखा लेकिन उसकी दृष्टिका अभिनन्दनपूर्ण उत्साह चुका नहीं। बड़ा भयानक है यह!

उसके दिमाग़में आतंकित करनेवाले शोरको उगलते प्रपात, निर्जन भयावह अरण्य और हू-हू करता सन्नाटा और शाम यक-ब-यक ताज़ा हो गयी। पत्थर केवल पत्थर और चारों ओर एक क्रूर सूनापन। लेकिन उसने पहली बार पहाड़ जाकर लौटे, अपने बढ़े हुए ज्ञानपर गर्व करनेवाले लोगोंकी तरह वन्दना, जीजी, नमिता, सबको सेवके बगीचों, झील-जलकी छातियोंको चीरते याँटों, धूप-छाँहमें बदलते पहाड़ी रंगों, घाटीसे घूँघर-घूँघर उठते कुहरे, ढलानोंपर फूल और बर्फ़ और असंख्य पर्वतीय ध्वनियोंकी ही बढ़ी-चढ़ी बातें सुनायीं।

बातचीत, ठीक अर्थोंमें बातचीत क्या बल्कि वे सूचनाएँ जो वह अभी देता रहा था, खतम-सी लगती हैं। लोग चुप हैं लेकिन उदास नहीं। धूपने बादलोंको फाड़कर दुबला कर दिया है। घरवाले उसको विशिष्ट या चार लोगोंके बीच घरकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाला लड़का समझकर अपने अन्दर अभिमानकी फुरहरी महसूस कर रहे हैं। विशिष्ट इसलिए कि उनका मुकुल एक प्रसिद्ध पहाड़ी स्थानपर नौकरी कर रहा है जब कि दूसरे परिचितों

और मुहल्लेवालोंके लड़के इसी टुटपुँजिया शहरमें बरसोंसे बने हुए हैं या ज़्यादा हुआ तो चालीस-पचास मील इधर-उधर छोटे क़स्बोंमें नौकरी करके मामूली माने जाते हैं। यही कारण है, उनको अभीकी चुप्पी भी स्वादिष्ट लगी। जीजी युवा और अर्धशिक्षित लड़कियोंकी तरह वन्दना और उसकी माँकी तरफ़ रूमानी लहजेमें देखती रहीं। 'देख लिया' वाला लहजा। इत्तफ़ाक़ कि कुछ बोल नहीं पड़ीं। जीजी अब बहुत अधिक ऐसी हो गयी हैं। जीजा उनके लिए बत्तीस-बत्तीस रुपयों तककी लिपस्टिक लाते हैं जो इलाहाबाद-सरीखे शहरोंमें भी नहीं मिल सकती। ऐसी चीज़ोंका आयात बन्द है। इस बातकी उन्हें ख़ुशी है, राष्ट्रीय ख़ुशी नहीं कि जीजाने उनके लिए और भी अनेक तस्कर वस्तुएँ इकट्ठी की हैं। जीजी यह सब बताते हुए मुग्ध हो उठती हैं। इठलाती हैं, लोग सामने बैठे हुए होते हैं नहीं तो उनकी तमन्ना तो उस वक़्त यह होती है कि वे पंजोंके बल खड़ी होकर पतिको तत्परतासे कुछ चुम्बन दे दें और आँखों-आँखोंमें कहें, तुम कित्ते अच्छे हो! लेकिन ऐसा मनमें ही खिलके रह जाता है और फिर जीजी अधिकसे अधिक कोशिशसे पैदा हुई विसलिंगके साथ, लस्त-लस्त चालमें दूसरे कमरे या किचनमें चली जाती हैं।

वन्दनाकी माँ श्रीमती जोशी सुन्दर हैं, दबकर बोलती हैं और तभी बोलना शुरू करती हैं जब आश्वस्त हो जाती हैं कि उनका बोलना, दूसरे, विशेषतः किसी पुरुषके साथ, अकस्मात् नहीं लड़ जायेगा। शायद अपनी सात्त्विकताके लिए उन्हें यह भी ज़रूरी हो। अकसर पुरुष-औरतकी बातका लड़ जाना लगभग शरीरके लड़ जानेकी तरह बुरा समझा जाता है। पर वे बुरी नहीं हैं। वन्दनाके लिए बोलीं, "मैं तो इनके पितासे हमेशा कहा करती हूँ, इसकी शादी पहाड़पर ही करेंगे।" चूँकि वे काफ़ी देर बाद, पहाड़के प्रसंगके लगभग समाप्त हो जानेके बाद बोलीं, इसलिए लगता है, श्रीमती जोशी छोटी-छोटी काल्पनिक और स्वप्निल बातोंमें जीती रहकर ख़ुश रहती हैं।

"पहाड़पर ही करेंगे," वन्दना अपनी माँके जुमलेकी पुनरावृत्ति वर्तुल ढंगसे करके, उठ नहीं गयी जैसा कि आम तौरपर लड़कियोंके लिए ज़रूरी होता है।

उसने पहले तो यह सोचा, वन्दना कच्ची है इसलिए शरमायी नहीं। फिर सोचने लगा, भला लगता है कि लड़कियाँ आजकल उठकर कम जाती हैं, अब तो बंगाली फ़िल्मोंमें भी अपनी शादीकी बात सुनकर वे भाग नहीं जातीं।

वन्दनाकी माँने नाककी सुनहली कील घुमाकर छोटे-से छिद्रको शायद बेवजह खुजाया और हँसती रहीं। मुकुलको, जो लॉनसे सूखी पत्तियाँ बीनने लगा था, आकर्षित करती हुई बोलीं, "आपके यहाँकी पत्रिकाओंमें-से काट-काटकर न मालूम कितने पहाड़ी चित्र इसने अलबममें इकट्ठे कर रखे हैं।"

बादमें एक दिन अपनी किताबकी अलमारियोंमें बमुश्किल इकट्ठा किये गये नेशनल ज्याग्रफ़िकके पुराने अंकोंमें अनेक पृष्ठोंको

ब्लेडसे कटा था उसे बड़ी कोफ़्त हुई। मनमें उबलकर भी उसने अपने नुक़सान और वन्दना तथा नमिताकी हरकतको चुपचाप पी लिया। ■

खास तौरपर आज, यूनिवर्सिटीमें लोगोंसे मिल-जुलकर वह घर लौटनेके सम्बन्धमें काफ़ी जल्दबाज़ हो गया है। वन्दना घरसे जो कपड़े पहनकर गयी थी वे साधारण और ढीले थे। हमेशा ही वह ऐसे कपड़े पहनती है। शायद पहनना पड़ता है। आज उसके कपड़े बिलकुल भिन्न थे। वे आकर्षक, बेहद चुस्त और आश्चर्यपूर्ण लगते थे। सुबह घरसे युनिवर्सिटी जाते समय पहने हुए कपड़ोंका वहाँ कोई परिचय नहीं था।

रास्तेमें दोस्त लोग कुछ और बातें कर रहे हैं। छूटे समयकी वे बातें जिन्हें मुकुलको बतानेके लिए उन्होंने भुलाया नहीं है। छोटी-छोटी बातोंको, जिन्दा रखनेके लिए, स्कॅण्डलस-में तबदील करके उन्होंने पाल-पोस रखा है। सड़कपर सब साइकिल एक क़तारमें नहीं चल सकतीं। ट्रक और कार उन्हें आगे-पीछे कर जाती हैं। सब फिर जुड़ जानेकी कोशिश करते हुए एक दूसरेकी साइकिलोंके समानान्तर होने लगते हैं और शहरकी लोकप्रिय महिलाओंकी शादियों, बरबादियोंके टूटे क्रमको जोड़नेमें शामिल होकर मज़ा लेने लगते हैं।

वह चलते हुए मित्रोंमें भी है और वन्दना-के साथ भी। उसे दोनों जगह रहनेके लिए नाटक करना पड़ रहा है और एक साधारण मेहनत। वन्दनाका क्या होगा, वह व्यर्थकी बातें सोचनेवाला एक मूर्ख मनुष्य है। वह अपनी मूर्खताको नष्ट करनेको फ़िलहाल तैयार हो गया। सोचने लगा, अधिकसे अधिक यह होगा कि कुछ समय बाद वह एक नयी और सरल भाषा बोलने लगेगी, आधुनिकाओंको भाषा·····''देखिए जी, आप कुछ नहीं देखते, बेबीने बाथरूम कर दिया है! बताइए, मैं क्या करूँ, आया भी तो नहीं है।''

''बेबीने बाथरूम कर दिया है!'' कितना मज़ेदार मुहावरा है, इस तरहसे वह पूरा मित्रोंमें शामिल हो गया। अभी आधा ही था। मित्रोंने अभी-अभी कोई रिक्शा देखा है और ध्यान आकर्षित करते हुए वे लगभग चिल्ला-से रहे हैं कि ''उसमें बैठा हुआ कोई बिलकुल चक्कू-सा गया है!''

घरपर उसे जीजीने बताया, ''हाँ, वह ऐसा करती है। कुछ कपड़े बनवाकर उसने सहेलियोंके पास हॉस्टलमें रख छोड़े हैं, वहीं बदल लेती है, घरमें किसीको पता नहीं। पता लग जाये तो ईश्वर जाने क्या हो। तुम किसी-से कहना मत।'' वह पुनः मानवीय हो गया। जीजी उसको पहचानती हुई बोलीं, ''क्या करे बेचारी वन्दना भी, बड़े ओल्ड फ़ैशण्ड लोग हैं इसके घरवाले।'' उसे याद आया, जब वह युनिवर्सिटीमें पढ़ता था तो एक ताँगेमें आने-वाली सभी मुसलमान लड़कियाँ अपने बुरक़े कम्पनी गार्डेनकी किसी हेजमें छुपा दिया करतीं या कोचवानको सुपुर्द कर देती थीं, जिसे उन्होंने मिला लिया रहा होगा। फिर बेपर्द होकर युनिवर्सिटी आती थीं। लौटते समय बाज़ारोंसे बुरक़ा पहनकर गुज़रतीं और अपने घरवालोंकी पवित्र लड़कियाँ हो जाती

थीं। उनका निश्चित रूपसे कभी कुछ नहीं हुआ होगा। हाँ, दुःखी रहनेवाले और अफ़सोसग्रस्त लोग वैसेके वैसे ही रह गये होंगे। यह सोचकर वह और गम्भीर हो गया। उसे लगा, वह एक दुःखी व्यक्ति है और यह पूरी तरहसे प्रकट हो चुका है। भयकी बात थी।

जीजी, उसकी, कोई बुजुर्ग नहीं हैं, ने प्यार-भरी हथेलियाँ उसके गालोंपर घुमायीं उसके सरके छोटे-छोटे बालोंको उँगलियोंसे पल-भर मसाज-सा किया, फिर सर्वथा लड़ियाते हुए पूछने लगीं, "मुकुल, तू हमेशा सैड-सैड-सा क्यों रहता है? इस उम्रमें तो लड़के खूब स्मार्ट होते हैं! तू गोपालसे कभी नहीं मिला, उसकी और तेरी उम्र लगभग एक ही होगी लेकिन वह बेहद यंग और स्मार्ट है। सुबहसे रात उसके जूते हमेशा खट-खट बोलते रहते हैं।"

वह चुप रह गया और चेहरेपर फीका होता हुआ हँसने लगा। जब जीजी उसे उदास मान ही चुकी हैं और दायित्वका निर्वाह कर लेनेवाले व्यक्तिकी तरह सन्तुष्ट और सुखी हो गयी हैं तो वह कैसे उनकी बातको अस्वीकृत कर दे। सोचा, अपनी बहनके आगे वह खासा पिछड़ गया है।

जाड़ोंमें शाम जल्दी आनी चाहिए लेकिन वह देरसे आयी। इधर अँधियारा छुप जानेसे ही शाम नहीं हो जाती। यहाँ तो आकाशवाणी-टाईम-सिगनल्स, पासके संगीत-विद्यालयसे रम्भाती हुई गायिका-लड़कियोंके स्वरों और स्टोवमें मिट्टीका तेल भरते समय उड़ आने और परेशान करनेवाली बास, शामका अधिक स्पष्ट पता बताती हैं। हरमुनियमवाला संगीत रास्तों, छतों, चारदीवारियोंको लाँघ घरमें घुसने लगता है और ढूँढ़ना पड़ता है कि घरमें अब किस वजहसे रुका जाये जब कि संगीत बाक़ायदा खदेड़ और हड़का रहा है।

वह ड्राइंग रूममें घुसा। वन्दना और नमिता दोनों रेकॉर्ड सुननेकी तैयारी कर रही हैं। मुकुल भाई इस समय यहाँ भी आ सकते हैं—यह बात उन दोनोंको किंचित् आश्चर्यजनक लगी लेकिन कुल मिलाकर यह हुआ कि वे संक्षिप्त तौरपर खुश होकर पगला-सी गयीं। उसने अप्रभावित रहनेकी कोशिश करते हुए वन्दनाकी तरफ़ देखा लेकिन उसे उसकी आकृतिमें कोई फ़र्क़ नहीं मिला। सामान्य, उसका अपनावाला प्रफुल्ल और शुद्ध जनानापन जिसमें सुबह युनिवर्सिटीवाली चतुर वन्दना आभासहीन थी।

नमिताने मुकुलसे, जो अभीतक खड़ा था, बैठनेको कहा—"माई डियर भाई साहब, तशरीफ़ रखिए, देखिए हम अपनी फ्रेण्डके यहाँसे वेस्टर्न म्यूज़िकका एक रेकॉर्ड लाये हैं, कृपया इसको सुनिए और हमारी तारीफ़ करिए।"

कोलम्बियाका तवा रेकॉर्ड-प्लेटपर चकराने लगा। जीजी, वन्दना, नमिता सबने इस नये रेकॉर्डको सुननेके लिए मुकुलसे अलग हो बाजेको घेर रखा है। गोया वे जितना पास होंगी उतना ज्यादा रेकॉर्डका मज़ा उठा सकेंगी।

ऐसा लगता था, वे सब कोई फ़िल्म देखकर आयी हैं जिसमें नायकने नायिकाके साथ

किसी हिल-स्टेशनपर मुहब्बत-भरे माहौलमें कोई कर्णप्रिय गीत गाया होगा और घर आते ही एक बर्फ़ीला गाना सुननेकी ज़रूरत इन्होंने महसूस की हो—यह सोचता हुआ वह अपने अन्दरकी मुसकुराहटको ओठोंपर काट रहा है। यह मुसकुराहट प्रकट करने लायक़ नहीं है।

संगीत उन्हें पहाड़ोंपर होनेवाले विण्टर फ़ेस्टिवलके चारों तरफ़ हितकर और सुखद वहशियाने तरीक़ेसे घुमा रहा है। इस सम्बन्धमें वह, पता नहीं क्यों, बड़ा ही रूढ़िग्रस्त और कट्टर होकर महसूस करता रहा है कि बर्फ़का सम्बन्ध कहीं-न-कहीं मौतसे है। लेकिन वस्तुतः वह संसारके ख़ुश और चालाक लोगोंको ग़ैर-ज़िम्मेदार मानता हुआ फिरसे दुःखी हो गया है।

हियर इज़ स्नो,
देयर इज़ स्नो,
ह्वेयर इज़ स्नो ?....

वही रेकॉर्ड, दोबारा था, तिबारा लगा दिया गया है। वन्दना अब टाफ़िटाके नीले और उस भद्दे-से लगनेवाले टुकड़ेपर कुछ काढ़नेका काम करती हुई पूछती है, "मुकुल भाई, आपने स्केटिंग सीखी है कि नहीं पहाड़पर ?"

"नहीं।"

"और ट्विस्ट ?"

"नहीं।"

"नलिनी पोहनकर कितना उम्दा ट्विस्ट करती थी," वन्दनाने नमिताकी तरफ़ मुड़कर उसके समर्थनकी उम्मीदमें ताका, फिर बिना परवाह किये उसने टाफ़िटाका नीला टुकड़ा पलंगपर लापरवाहीसे फेंक दिया और उत्साहमें खड़ी हो गयी—"मुकुल भाई, आपको कैसे बतायें, कितनी ग़ज़बकी उसकी ट्विस्टिंग थी। उसने ऊटीमें कहीं सीखी थी। उसके फ़ादर...."

"हट, उसने माउण्ट आबूमें सीखी थी, ऊटीमें नहीं मैंना (वन्दनाका घरू नाम) !" नमिताने तत्परतासे उसे काटा।

"मेरा मतलब है, कहीं पहाड़से ही वह सीखके यहाँ आयी थी, कोई इधर थोड़े ही उसने सीखी है," वन्दनामें अपनेको काटे जानेका एक बहुत ही कमनीय और संक्षिप्त तैश था।

नमिता, लगता है, इधर-उधर होना चाहती है। वन्दनामें किसी दूसरे कामकी तैयारी नहीं है, इसलिए वह सुविधासे बैठी है। उसके अन्दर कोई हिचक नहीं है—"मुकुल भाई, हमें तो ट्विस्ट बड़ा मुश्किल लगता है, हमारा तो शेक सीखनेका मन है।"

"शेकमें क्या है, उसे सीखनेकी ज़रूरत नहीं पड़ती," उसने मज़ाक़िया तरहसे कहा।

"आप शेक जानते हैं ?" वह अपनी जगहपर खड़ी-खड़ी ही उछली।

"मैंने कहा न, उसमें सीखनेको कुछ नहीं है।"

"हय, आप तो कितनी चीज़ें जानते हैं, कितने इण्टेलिजेण्ट हैं !" फिर—"हम लोग कितने अभागे हैं, यहाँ कुछ भी नहीं है।" एकदम ख़ुश होनेके बाद उसपर ज्यों उदासी-

का झोंका लद गया हो, "हिलसपर तो सीखने-का मौक़ा भी मिलता है, यहाँ क्या मुरदा-मुरदा ज़िन्दगी है।"

"नहीं, तुम इधर भी सीख सकती हो। नाचके लिए पहाड़ ज़रूरी नहीं है।" ऊबके बावजूद वह वार्तालाप चला रहा था। शायद यह उसकी भूख रही हो या उम्मीद।

"अपना सर सीखेंगे!" उसका दूसरा जुमला वन्दनाने सुननेकी ज़रूरत नहीं समझी—"दो एक सालमें शादी-वादी हो जायेगी, फिर सब फ़िनिश्ड। मुकुल भाई, रियली यू आर व्हेरी लकी, आपने पूर्वजन्ममें खूब पुण्य किये होंगे, तभी पहाड़पर नौकरी मिली है।" वह खुश हो गयी, ज्यों अभी सब कुछ फ़िनिश नहीं हुआ है या जैसे उसे भी पहाड़पर नौकरी मिल गयी हो।

रेकॉर्डमें रिगरस म्यूज़िकका अन्तिम हिस्सा बजकर अभी-अभी ही खतम हुआ है और स्नोकी कमरेमें भरी हुई चीख धीरे-धीरे गुम हो गयी है। केवल करेण्टकी हलकी आवाज़ है जो कभी भी बन्द की जा सकती है। मन तो उसका यह हुआ कि लड़कियोंसे कहे, वह ताण्डव भी काफ़ी अच्छी तरह जानता है लेकिन वह चुप रहा। अपने बारेमें निर्मित होती संजीदगीको तोड़कर विनोद करनेका खेल उसने नहीं किया।

उसने अखबार उठाकर खोल लिया। चेहरा छिप जानेपर सोचने लगा, अब क्या करना चाहिए? ज़रा-सा कलाई घुमाकर, घड़ी देखी। बहुत देर नहीं हुई है, अभी वह बाहर निकल सकता है और शायद खुश भी हो सकता है। चित्तकी प्रसन्नता अभी उसके पास बची है। अखबारके दूसरी तरफ़ वन्दना और नमिता बात किये जा रही हैं। स्लैक्स और जीन्स, पहाड़ोंपर सैर-सपाटेके रोमांच, कुछ नाम-अनाम सहेलियाँ, फ़िल्म्स आदि। कभी कानाफूसी और कभी उत्साहप्रद स्वर-तेज़ी। पहाड़ोंपर स्लैक्ससे बहुत सुविधा होती है, इस सम्बन्धमें दोनोंके बीच कोई विवाद नहीं है। लेकिन वन्दनाके घरवालोंको स्लैक्स असह्य हैं। उसने आवाज़को निहायत धीमा करके एक छोटा-सा षड्यन्त्रपूर्ण आग्रह नमितासे किया, "तू एक स्लैक्स बनवा न ले। तेरे यहाँ तो कोई कुछ कहेगा भी नहीं, उसे ही हम लोग बदल-बदलकर पहन लिया करेंगे, जब कभी भी हिल्स जायेंगे...."

बीचमें छाये अखबारकी परवाह न करते हुए अब वह उससे कह रही है, "अबकी अप्रैलमें हम लोगोंको उधर ज़रूर बुलाइए, मुकुल भाई! तबतक हमारे 'एक्जाम्स' भी खतम हो जायेंगे। आपके पास तो मकान भी है, आपको क्या दिक़्क़त है?" "हाँ भइया," नमिताने जोड़ा, "वहाँ राइडिंग करेंगे, जीजीके गितारपर तुम्हारी पोयम्स पढ़ेंगे और सन्ध्या मुखर्जीके गाने गायेंगे। फूलोंके गुलदस्ते बनाना सीखेंगे, फ़ोटो खींचेंगे और डान्स...." लय-कारीसे टाटा-टी-टर-टाटाटी करती हुई चुट-कियोंके वज़नपर दो-तीन बार उसने अपनी टाँगें आगे-पीछे फेंकीं और नितम्ब हिलाने लगी। वन्दनाने भी रगोंमें एक उछाल अनु-भव की और मुकुल भाई तथा सहेलीको गहरी नरम नज़रसे देखने लगी।

उसने कुछ जवाब नहीं दिया। सिर्फ़ अखबारके दो छोर, जो अभीतक उँगलियोंमें हलके-से लटके थे, मुट्ठियोंमें भिंच गये। शामको अखबार कूड़ा हो जाता है यह समझ उसने उसे फ़र्शपर हाथके धक्केसे उड़ा दिया। लड़कियोंके क्रेज़पर उसे कुढ़न हुई। उसने चाहा कि वह कोशिश करके इन स्थितियोंको मौजमें ले सके लेकिन तत्काल यह मुमकिन नहीं हुआ।

वह चिढ़ा रहा। उसे वन्दनाके चेहरेपर बोरियत दिखाई पड़ने लगी और नमिता, अपनी बहनके, चेहरेपर भी। जीजी नहीं थीं अन्यथा उनका चेहरा भी वैसा ही लगता। उसने पाया, वह इन लोगोंसे काफ़ी ऊब रहा है। उसका भविष्य बिगड़ता जा रहा है और अगर वह कोई दिलचस्पी इन लोगोंमें नहीं ढूँढ़ सकता तो कमसे कम फ़िलहाल उसे बाहर ही निकल जाना चाहिए।

एक बार उसने वन्दना और नमिताके चेहरोंकी तरफ़ पुनः देखा, इस लापरवाह उम्मीदमें कि थोड़ा समय बीतनेपर शायद वे अच्छे लगें। वे वैसे ही हलके-फुलके और बोर थे। उसने एक मज़ेदार बात सोची। उसके सामने प्रेमपात्रके चुनावका प्रश्न आये अथवा मनमें प्रेमकी धोखाधड़ीकी बात, तो वन्दनाके स्थानपर उसकी माँसे प्रेम करनेकी कल्पना निश्चित रूपसे उसे अधिक उत्साहित करेगी। ऐसा सोच उसने अपनी ऊबके साथ एक खिलाड़ी व्यक्तिकी तरह व्यवहार किया।

"अच्छा भाई हम चलते हैं!" वह उठ पड़ा।

"कहाँ ? वहीं !"

एकाएक वह समझा नहीं। भाइयोंको जबरदस्ती कहीं मुहब्बतमें गिरफ़्तार मानकर चलनेवाली फ़ैशनेबुल और दोस्त बहनोंकी तरह वे दोनों मुसकराने लगीं, जिसमें मध्यमवर्गीय संस्कारोंवाली मुसकराहट भी थोड़ा बहुत चिथड़ा होकर अटकी मालूम होती है।

रूखे ढंगसे एक कड़वा और झूठा हाँ कहते-कहते, रुककर उसने व्यंग्यात्मक मुसकराहटकी एक बहुत छोटी लहर अपने अन्दर महसूस की। वह नामालूम-सी प्रदर्शित हुई। मुकुल बाहर आ गया। वे दोनों उसे 'सी ऑफ़' करने-सरीखी मुद्रामें पीछे-पीछे आयीं। चाहा होगा, लेकिन 'गुड लक' कहनेकी हिम्मत उनकी नहीं हुई। अभी वे कच्ची, बनती हुई आधुनिकाएँ हैं। बहुत-से शब्दोंमें उन्हें झिझक होती होगी। फिर मुकुल भाईका कोई मामला-वामला है, इसका उन्हें पक्का पता नहीं, इसलिए 'गुड लक' नहीं हुआ। बाहर म्यूज़िक-स्कूलमें हरमुनियमवाला संगीत ज़ोरोंपर है। लगा, पहलवान लड़कियाँ सरगमपर आरोह-अवरोहवाली कोई कसरत अपनी तन्दुरुस्तीके लिए कर रही हैं।

वन्दना और नमिता अभी भी पहले-सी थम-थमके मुसकरा रही हैं और दरवाज़ेपर खड़ी उसको भाँप रही हैं।

वह बाहर आ गया।

इन लड़कियोंकी मुसकराहट बहुत चालाक और समझौता करनेके उद्देश्यसे भरी हुई है। उसे लगा, दोनों कहीं प्रेम करना शुरू कर चुकी हैं। ■ ■

बेतरतीब

कहानी

ममता कालिया

[ममता कालिया
पहली रचना : १९५७]

■

उन्हें बहुत बुरा लगा था। अचानक मूड खराब हो गया और उठ दिये। आकर बैठे तबसे वे उसके अभिनयकी तारीफ़ कर रहे थे। थोड़ी-थोड़ी देरमें वे याद करते—"और गुस्सेसे काँपनेवाले सीनमें तो कमाल कर दिया तुमने !", "पता है, उस वाले सीनमें तुम्हारे लगातार हँसनेपर पास बैठी लड़कीके आँसू निकल आये !" वह संयत मुसकानके साथ हर बार 'ओ' 'ज्यादा कुछ नहीं' आदि कहता रहा। वे देर तक इन्तज़ार करते रहे थे, फिर ख़ूब असन्तुष्ट हो चले गये। उनके मुड़ते ही आनन्द पिघल गया। मन हुआ, उन्हें पुकार कर वह एक साँसमें वह सब कह दे जो सुननेके लिए वे इतनी तामझाम कर रहे थे। पर उसने उन्हें जाने दिया। लोग तारीफ़ दूसरोंकी तरफ़ ऐसे फेंकते हैं जैसे शटलकॉक। प्रतीक्षा करते रहते हैं उसके वापस आनेकी। अगर आप उसी अनुपातमें नहीं देते तो आप उसकी रायमें हमेशाके लिए एक खास सन्दिग्ध जीव बन जाते हैं। वह चाहता तो दो-चार रवायती शब्द कहकर काफ़ी दिनोंको

उन्हें अनुकूल बना सकता था; कॉफ़ी-हाउसमें अगले हफ़्ते कॉफ़ीके पैसे बच जाते, सिगरेटें भी मिल ही जातीं। हो सकता है, एक-दो बार बसकी टिकिट भी। वह अपने फ़ायदे खुद काटता जाता है। छह महीने पहले वह मकान-मालिकसे जीनेकी सफ़ाईपर न लड़ा होता तो उसे पहलीको दौड़-धूप न कर पाँच-सात तारीख तक किराया देनेकी सुविधा रही आती। जब पहलीको तनखा नहीं मिल पाती है या छुट्टी पड़ जाती है तो उसे अब उधार लाकर देना पड़ता है। ऐसी बातोंको देखते हुए आनन्द बड़ा असफल आदमी है। जब हम अपने प्रति ईमानदार रहना शुरू करते हैं, हम सिर्फ़ अपने तक ही रह पाते हैं, हमारा सारा सफ़र हमसे शुरू होकर हमीं तक खतम हो जाता है। यहाँतक कि कभी-कभी महसूस होने लगता है कि दूसरेकी क़ीमतपर अपने प्रति ईमानदार रह सके हैं। कभी-कभी उसे खुशी होती है, उसने अबतक शादी नहीं की। घरमें माँ-बापने बहुत बार आदर्श मौक़ोंपर—सब्ज़ी काटते, अखबार पढ़ते—उससे कहा कि अब उसकी शादी हो जानी चाहिए। इस बातसे वह भी सहमत था पर उसने अभीतक यह निश्चय नहीं किया था कि शादी करनी चाहिए या होनी चाहिए। 'होनेवाली शादीसे' उसके शरीरके कुछ हिस्सोंकी ज़रूरतें पूरी हो सकती थीं पर दिल और दिमाग़के हिस्सोंकी ज़रूरतें पूरी होतीं इसमें उसे शक था। जिस दिन शरीरके कुछ हिस्से उसे अधिक परेशान करते वह सोचता, दिल और दिमाग़को बिना बाँटे जिया जा सकता है, शादी 'हो' जानी चाहिए। पर फिर वह दिमाग़ी कसरतके क्षणोंमें इस बातको नकार देता और अपने प्रति ईमानदार बना आता।

उनके जानेके बाद वह देर तक बिस्तर-पर पड़ा रहा। खिड़कीसे सटी गलीसे एक खास समपर, बराबर, रस्सीके टपनेकी आवाज़ आ रही थी। उसे पता था, वही आठ-दस सालकी लड़कियाँ रस्सी कूद रही थीं जिनमें उसे कोई रुचि नहीं। इससे बड़ी लड़कियां खुलकर नहीं कूदतीं और उनमें उसे रुचि हो सकती है। वह लेटा-लेटा अनुमान लगाता रहा, कितनी लड़कियाँ खेल रही हैं। जो अकेला रहता है उसे मन बहलानेके साधन स्वयं जुटाने पड़ते हैं। रस्सीका सम चार बार टूटा तो उसने सोच लिया, चार लड़कियाँ हैं!

प्यास लग रही थी पर उसने पानी नहीं पिया। देखता रहा, कितनी देर बिना पिये रहा जा सकता है। पानी पिये बिना इतनी देर भी रहा जा सकता है, यह अनुभव करते, ऊबकर वह पानी पी आया।

उसे शाम, कला-केन्द्रमें जाना था। आय-का कुछ हिस्सा 'सर' कलाकारोंमें बाटेंगे। वह जानता है, फिर सन्तोष नहीं आयेगी और 'सर' उसका हिस्सा आनन्दके हाथपर रख देंगे। वह इस स्थितिसे बचना चाहता आया है पर सन्तोषने 'सर'से इतनी सहजतासे कह रखा है, 'सर', आप इन्हें दे देते, मुझे सहीसलामत मिल जाता है।' यह याद आते ही आनन्दको ढेर थकान आ गयी। फिर वही खींच-तान, घण्टों बेमतलब बहस और वही उसका

ग्रीन-रूममें उसकी गोदमें लगभग लेटते हुए कहना—'अरे ठीक है आनन्द !' वह आनन्दसे पैसे नहीं लेती—यह बात कोई और नहीं जानता। शायद जान ले तो चालाक माने उसे, कि वकील साहबकी सारी जायदाद उसकी हो सकती है, पर वह थककर ऐसा करता है। वह सन्तोषसे ऐसी बहस नहीं कर सकता कि वह चॉकलेट खाती चिपचिपी आवाज़में कहती जाये—'आनन्द ! प्लीज, अपना तो यह कॉमन-पूल है, चार दिन कॉफ़ी पिला देना तुम, बस हिसाब साफ़।' आनन्दको लगता है, सन्तोष उसे धागेका बेतरतीब ढेर समझती है, हर बातमें उँगलीपर एक गज़ ढील और लपेट लेती है। आनन्दने 'सर' से पिछले साल कहा था, 'सर, यह पंजाबी उच्चारण स्टेजपर चल नहीं पायेगा।' सर बोले, 'भई, इसके फ़ादर केन्द्रको ग्राण्ट देनी बन्द कर देंगे। छोटे-मोटे रोल दे दिया करेंगे किसी तरह।' इन फ़ादर साहबने लड़कीको मुक्त छोड़ रखा है ठौर ढूँढ़नेके लिए। पहले कुछ साल स्वयं मेहनत की, फिर जैसा सब पिता करते हैं, गुपचुप 'एक्स्क्यूज़ मी' की मुद्रामें परे हट गये। सन्तोषजी एक तो इतनी मोटी, ऊपरसे उम्र, पुराने इलास्टिक-सी बढ़कर लटकनेवाली। केन्द्रके हर छात्रपर उसकी मेहरबानी रह चुकी। आनन्दसे उसकी एक शिकायत—'आनन्दजी, आप घर नहीं आये कभी ?' या प्रश्न—'क्यों, प्लाज़ामें क्या चल रहा है इस हफ़्ते ?' या गिला—'तुम बड़े पैसिव हो आनन्द !' आनन्दकी तीव्र इच्छा होती, कह दे—'आप फिर इतना ऍक्टिव क्यों हैं सन्तोष बहनजी ?'

लेटे-लेटे आनन्द हज़ारों बेतरतीब बातें सोचता रहा। मान लो, कलसे वह रोज़ मकानदारको आगे-पीछे निकलते हर बार 'सतश्री अकाल' करना शुरू कर दे, तो स्थिति कितनी भिन्न हो जाये। फिर वह पहलीको किराया लेकर जाये तो वह दाढ़ी सहलाते बोले, 'कोई गल नहीं जी, फिर आ जाता।' तारीफ़को शटलकॉकको तरह उछालनेपर वह संवाददाता अखबारमें कहीं बीचमें डाल देता—'श्री आनन्द अपने भावपूर्ण अभिनयके कारण सफलतम रहे।' और मोटी सन्तोषको वह हँसीमें भी छू दे तो वह उसे उसी वक़्त टैक्सीमें भरकर अपने बेडरूममें डलवा ले और उसके आवास-प्रवास-सहवासकी निःशुल्क व्यवस्था हो जाये।

आनन्द तैयार होकर बाहर निकला। बहुत देर तक स्टॉपपर खड़ा रहा, बस नहीं आयी। उसे खुशी हुई कि बस नहीं आयी क्योंकि अब वह स्कूटर ले सकेगा। स्कूटरकी बदहवास गति उसे प्रिय है। स्कूटरमें उसे महसूस होता है—उसकी सामर्थ्य बढ़ गयी है। उस शहरमें निरुद्देश्य नहीं घूमा जा सकता। घरसे निकलते ही एक उद्देश्य सामने होता है—सवारी मिलनेका।

वह बहुत देर तक 'विस्टा' पर टहलता रहा। वहाँ उसकी तरह निरुद्देश्य घूमनेवाले कम ही थे। कुछ जवान लड़कियाँ सिर्फ़ चॉक-बार खानेके इरादेसे आयी थीं, उन्हें पानीमें डूबी मर्करी रोशनी, नाइलॉनके तारों-सी नरम घास, किनारे औंधी पड़ी नन्हीं-नन्हीं नावें—कुछ नज़र नहीं आ रहा था। कुछ

लोग वहाँ प्रेम करनेके खयालसे आये थे और आँख बचाकर गाहे-बगाहे अपनी प्रेमिकाको कहीं सहला देते । आनन्द देर तक यों ही अनमनाया उनकी प्रेमिकाओंके चेहरोंपर आती मुसकराहटें नोट करता रहा, हरेकके प्रेमकी मियाद मापता रहा । काफ़ी थक लेने-पर वह कृषि-भवन तक पैदल आया । उसे कला-केन्द्र पहुँचनेके लिए यहाँसे सीधी बस मिल जानी थी । बस-स्टॉपपर भीड़ थोड़ी थी । उनमें-से कुछेकके हाथोंमें तीन-तीन किताबें थीं जिससे ज़ाहिर था वे ब्रिटिश-काउन्सिल-लाइब्रेरीसे आ रहे थे; कुछ हाथोंमें दफ़्तरके मोटे बैग लटकाये थे। दूरसे भ्रम हो सकता था ये किसी महत्त्वपूर्ण पदका भार घर ढोकर ले जा रहे हैं पर, दरअसल, वे खानेके खाली डब्बे और दफ़्तरकी स्टेशनरी ले जा रहे थे ।

वह बीस पैसेकी टिकिटको मोड़ता-तोड़ता बसमें बैठा रहा । केन्द्रका स्टॉप आनेपर उठता-उठता वह बैठ गया । उसे आलस आ रहा था । सोचता रहा, अगर रास्तेमें चेकर नहीं आया तो इन्हीं बीस पैसोंमें वह चालीस पैसोंकी दूरी, घर तक, नाप सकेगा ।

■ ■

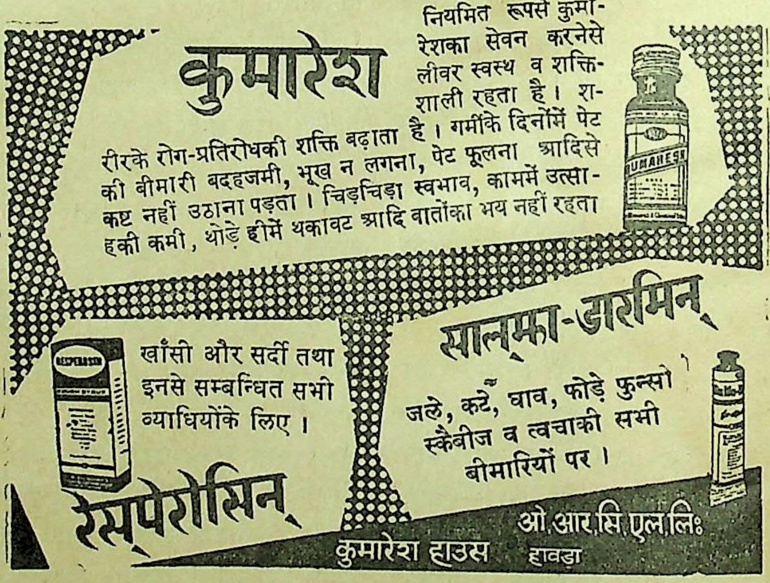

कल से पहले

गंगाप्रसाद विमल

[गंगाप्रसाद विमल
पहली रचना : १९५८]

वहाँ सामने मंचपर तीन कुरसियोंके बीच घिरा एक आदमी बैठा है। मैं उसे जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि अब, जब कार्य-क्रम आरम्भ हो चुका है, चाहे मैं थोड़ी देरसे पहुँचा हूँ, वे लोग उस आदमीके ही बारेमें कहेंगे। उस आदमीके बारेमें वह सब भी कहेंगे जो उन्हें स्वयं पता नहीं है।

इस कार्य-क्रममें आनेकी मेरी इच्छा नहीं थी। इधर जबसे मैंने अपने मनोरंजनकी और तरकीबें निकाल ली थीं तबसे मैं ऐसे आयोजनोंमें जानेके लिए अपनेको तैयार नहीं कर पाता। परन्तु वे लोग मेरे पास आये थे, जो इसका आयोजन कर रहे हैं, और बिना मेरी रुचिका ध्यान रखे उन्होंने मुझे विवश किया था कि मैं अवश्य चलूँ। इसे सिर्फ़ विवशता कह देनेसे काम नहीं चलेगा। विवशताके साथ-साथ यह सब कुछ, यहाँतक कि उन्हें मुझे चलनेके लिए कहना भी इतना बेहूदा था कि सिवाय उनकी बात मान लेनेके मुझे कुछ नहीं सूझ रहा था। आप अपनी सुविधाके लिए इस प्रसंगमें यह मान लें कि मैं कोई ताक़तवर आदमी नहीं हूँ। मेरी बाँहें सूखे बाँसोंकी तरह लम्बी जरूर हैं लेकिन मैंने कभी इस ओर ध्यान देकर वर्जिश नहीं की और मेरी आवाज़में मिलट्रीके आदेशोंकी तरह सख्ती भी नहीं है। आप यह मान लें कि वे मुझे इसी वजहसे ले जानेमें समर्थ हुए तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि दुनियामें ये ही बातें अब आश्चर्यकी रह गयी हैं।

मैं उस आदमीको जानता हूँ, जिसके बारेमें यह आयोजन किया गया है। उन्होंने मुझे कहा था कि शहरके सम्भ्रान्त नागरिक उस आदमीका अभिनन्दन कर रहे हैं और सभी सम्भ्रान्त नागरिकोंकी उपस्थिति अनिवार्य है। उनके दो बार सम्भ्रान्त शब्द कहनेपर मैं अचकचा गया था और जीवनमें पहली बार मैंने एक शब्दसे अपनेको परास्त पाया, या यों कहूँ कि अच्छे शब्दोंसे अपनी संगति नहीं पायी। मेरी स्थिति स्वयंके लिए विचित्र हो गयी थी और मैं निर्णय नहीं कर पाया था। मैंने सोचा, ऐसे विशेषणोंसे लड़ना कितना मुश्किल है!

जब मैं बड़े कमरेमें पहुँचा था तो सामनेके मंचपर वह घिरा हुआ बैठा था और कार्य-क्रम शुरू हो चुका था। मैंने ग़ौरसे देखा तो पाया कि तीन कुरसियोंके पीछे कुरसियोंकी एक पंक्ति और है जिसमें कोनेकी एक कुरसीपर उसकी पत्नी बैठी हुई है। उसकी पत्नी बूढ़ी ज़रूर हो गयी है पर वह कुरूप नहीं थी। वह एक ओर झुककर बैठी हुई थी। इससे उसे देख पानेमें कोई दिक़्क़त मुझे नहीं हुई थी। 'वह' भी कुछ सिकुड़ा हुआ बैठा था और मैंने अनुमान लगाया कि वह भी अवश्य इस विचित्र स्थितिमें बैठकर कुछ महसूस कर रहा होगा। मुझे इस बातका क़तई आश्चर्य नहीं है कि लोग उसका अभिनन्दन कर रहे हैं और वे उसकी सराहना कर रहे हैं, यह इतनी साधारण बात थी कि मैंने मान लिया था कि आयोजकों और सम्भ्रान्त नागरिकोंके पास करनेके लिए और कोई ठोस काम नहीं था। मैं कल्पना कर लेता हूँ कि जब उस आदमीको उन्होंने कहा होगा कि हम आपका अभिनन्दन करना चाहते हैं तो वह कितना हँसा होगा। ये बातें उसके लिए निश्चित ही अर्थहीन थीं किन्तु अब वह वृद्ध हो गया था और उसमें शायद एक तरहकी सम-दृष्टि आ गयी होगी या कुछ भी हो सकता है।

मेरी बग़लमें जो आदमी बैठा था वह उसके बारेमें जाननेको बेहद उत्सुक था, किन्तु अभीतक जो लोग मंचपर आकर भाषण दे रहे थे वे उसके बारेमें कुछ ऐसी बातें नहीं कह रहे थे जिनसे जिज्ञासु आदमी तृप्त हो सकें। वे उसी तरहसे औपचारिक शब्दोंकी शृंखलाएँ बाँधे जा रहे थे जिन्हें थोड़ा बदल कर आप किसीकी मृत्युके अवसरपर भी कह सकते हैं।

मैंने उस आदमीको कहा कि मैं मंचपर बैठे हुए, उस सिकुड़े हुए बूढ़ेका परिचित हूँ और हम एक अरसेसे एक-दूसरेको जानते हैं। मेरे यह कहते ही वह प्रसन्न हुआ और कुछ पूछनेके लिए पूरी तरहसे तैयार हो गया। मैंने उसे बताया कि हम लोग ऐसी जगह बैठे हैं जहाँ हमें बातें नहीं करनी चाहिए।

थोड़ी देर हम भाषण सुनते रहे। बादमें उस आदमीने मेरे कन्धेपर हाथ धरकर कहा कि यदि मुझे कोई ऐतराज़ न हो तो हम लोग पीछेकी सीटपर बैठ चलें। मैं जानता था वह मुझसे कुछ पूछना चाहता था। और कोई अवसर होता तो मैं उसे कहता कि पीछे जाना ठीक नहीं किन्तु मैं उस आयोजनसे इतना

घबरा गया था कि थोड़ी देर बाद मैं ज़ोर-ज़ोरसे चीखने लगूँ, ऐसा भी हो सकता था।

हमलोग चुपचाप पीछेकी सीटोंपर आ गये। वहाँतक भाषण देनेवालोंके शब्द उतने तीखे और साफ़ नहीं आ रहे थे और वहाँपर हम लोगोंसे घिरे हुए भी महसूस नहीं कर रहे थे।

मैंने सोचा, इस आदमीने अगर मुझसे पूछना शुरू किया तो कहीं यह न हो कि अवसर देखकर यह भी अपना भाषण देना आरम्भ कर दे। इसलिए मैंने उसे स्वयं ही बातें बतानी आरम्भ कीं। वह इस तरह चुप बैठा हुआ था जैसे उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण यही हो और मेरे लिए आश्चर्य तथा क्षोभका प्रश्न था कि आखिर यह आदमी क्यों दूसरोंमें दिलचस्पी ले रहा था। लेकिन, जैसा मैंने आपको बताया, उस आदमीसे बातें करते हुए मुझे नहीं लग रहा था कि मैं किसी आदमीसे बात कर रहा हूँ अपितु मुझे एक मज़ेदार अनुभूति हो रही थी कि जीवनमें इस क्षण मैं दीवाल और जड़-वस्तुओंसे भी बात कर सकता हूँ।

मैंने उसे उस आदमीके बारेमें थोड़ी-थोड़ी परिचयात्मक जानकारी दी। बादमें मैंने सोचा, यह कोई सहज आदमी लगता है और निश्चय ही यह उन प्रसंगोंमें दिलचस्पी लेगा जो इसके लिए विचित्र थे। यह बात सच भी थी किन्तु सहज ही इसको सच माननेके लिए कोई तैयार नहीं भी हो सकता है।

"आप शायद नहीं जानते कि उसकी बीवी, जो पीछे बैठी हुई है, इससे पहले एक ऐसे आदमीकी बीवी रह चुकी है जो आजकल जेलमें सज़ा भुगत रहा है।"

उसके चेहरेमें आश्चर्यका भाव आया और उसीके साथ जाननेकी इच्छा लिए एक तरलता भी तैर आयी।

"उन दिनों मैं नया-नया यहाँ आया था और मेरा उससे नया परिचय हुआ था। हम लोग एक छोटे शहरमें अचानक परिचित हो गये थे और अकसर एक-दूसरेके घरमें ही अधिकतर वक़्त बिताते थे। वह एक अखबार-में काम करता था और मैं अपना पुराना शहर छोड़ यहाँ आया था। एक दिन जब हम लोग दोपहरको गप्पें लगा रहे थे कि एक महिला कमरेके दरवाज़ेपर खड़ी दिखाई दी। उसने पहले मुझे बुलाया और कहा कि उसके पतिको सुबह-सुबह पुलीस पकड़कर ले गयी है और इस शहरमें उसका पतिके अलावा कोई और आदमी नहीं है।....वह महिला पर्याप्त सुन्दर थी और उसके कहनेमें एक दय-नीयताका भाव था। मैंने उसे कहा था कि मैं तो सहायता नहीं कर पाऊँगा लेकिन मेरा एक दोस्त अखबारमें काम करता है, शायद वह इस मामलेमें कुछ सहायता करे। उस दिन शाम तक हम लोगोंने काफ़ी प्रयत्न किया किन्तु उसके पतिको छुड़ा नहीं सके। वह अपराधोंकी एक लम्बी शृंखलासे सम्बद्ध था और पुलीस उसे छोड़कर कोई खतरा नहीं उठाना चाहती थी। बादमें बहुत सामान्य तरीक़ेसे वह अपना घर छोड़कर हमारे साथ रहने लग गयी थी। हम दोनोंने उसके आ जानेके बाद एक ही जगह रहनेका निश्चय

किया और वह एक तरहसे हम लोगोंके परिवारके घेरेमें आ गयी थी।

"उसके पतिपर मुक़दमा चल रहा था और हम लोग अक्सर उसके पतिकी सहायता करते रहते थे किन्तु अन्तमें उसे तीन वर्षकी कड़ी सज़ा हो गयी थी और हमने उसे तथा उसकी पत्नीको तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करनेकी सलाह दी थी।

"शहर बहुत छोटा था, उन दिनों तो आप जानते हैं यहाँ कोई अच्छा होटल और क्लब भी नहीं था। हम लोग जल्दी ही बदनाम भी हो गये थे। परन्तु इससे कोई फ़र्क़ हम लोगोंपर नहीं पड़ा। मेरे दोस्तकी अखबारकी नौकरी ज़रूर छूट गयी थी लेकिन तबतक वह इतना अच्छा लेखक बन गया था कि उसके सामने कोई समस्या नहीं रह गयी थी। हम लोग बहुत ही नीरस जीवन जी रहे थे। दो वक़्त खाना खाना और दो वक़्त घूमना, इसके अलावा हमारे पास कोई और क्षेत्र नहीं था। हम बदनाम इतने थे कि शहरका कोई भी व्यक्ति हमसे नहीं मिलता था। यह नीरस जीवन हम जीते रहते तो कोई बात नहीं थी। हम लोग ऐसे भी अभ्यस्त हो गये थे। पर अचानक एक दिन एक घटना घट गयी थी, हमारे साथ रहनेवाली महिलाके साथ किसी ऊँचे अधिकारीने बलात्कार किया....। वह रात मैं कभी नहीं भूलूँगा! आप जानते हैं, ऐसी भयानक स्थितिमें हम लोग कर भी क्या सकते थे। रातको जब वह महिला लौटी थी तो उसके कपड़े फटे हुए थे और चेहरेपर जगह-जगह काट खाने जैसे दाग़ थे। वह रात-भर रोती रही, हम लोग कुछ नहीं कर सकते थे, सिवाय इसके कि हमने उसे यही कहा कि उसे यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए और उस अधिकारीके ख़िलाफ़ रिपोर्ट कर देनी चाहिए। आपको आश्चर्य होगा, सुबह हम उसकी रिपोर्ट करने जा ही रहे थे कि हमारे दरवाज़ेपर शहरके बहुत सारे लोग खड़े थे। वे हमें पीटना चाहते थे और हमें शहर छोड़नेके लिए कह रहे थे। जहाँतक मेरा खयाल है, यह सारी तजवीज़ उन अधिकारी महोदयकी थी जिन्होंने यह घृणित कार्य किया था। उस महिलाने हमें बचाया था, यह हम नहीं भूलेंगे। उसने सारे लोगोंके सामने सच्ची बात बतायी थी। वे अधिकारी साफ़ बच निकले थे और हम उस नीरस जीवनमें कुछ घटनाएँ अपने साथ लिये जी रहे थे। इसी बीच मँहगाई और आर्थिक विषमताने हम लोगोंको काफ़ी परेशान किया था लेकिन ये बातें बराबर हमें आसानीसे नीरस जीवन जीते रहनेका बल देती थीं।

"इसी बीच मुझे एक बार कुछ दिनोंके लिए बाहर रहना पड़ा था और जब मैं लौटा था तो मेरा मित्र और वह महिला परस्पर पति-पत्नीके रूपमें मेरे सामने आये थे। मुझे इस बातकी खुशी हुई थी, और जानते हैं, इस खुशीमें उनके न चाहते हुए भी मैंने घर बदल लिया था।....

"क्या आपको इन बातोंसे रुचि मिल रही है?" मैंने बीचमें पूछा।

उसने अत्यन्त तृप्त भावसे स्वीकारमें

सिर हिलाया ।

"मैं आपको यह बताना तो भूल ही गया कि जब हम उस महिला और उसकी शादीके प्रसंगकी सूचना देने महिलाके पतिके पास जेल गये थे तो उस दिन वह बीमार था। फिर भी हमने उसे वह सूचना दी थी, और उदास और बीमार होनेके बावजूद उसने पितृ-स्नेहसे उन दोनोंको आशीष दिया था। बादमें उसके छूटने तक हम जब-जब उसे जेलमें मिले हैं तो उसने अत्यन्त सहज भावसे यह स्वीकारा था। वह सिर्फ़ इतना कहता था कि उसका भाग्य प्रबल नहीं है। मैं नहीं जानता कि वह भाग्यकी इतनी बात क्यों करता है। उन लोगोंकी शादीके तीन महीने बाद ही उसे जेलसे छुट्टी मिल गयी थी क्योंकि जेलमें उसका व्यवहार सदैव अच्छा रहा था।....वह जब जेलसे छूटकर आया तो सीधे मेरे पास आया था। उसने एक तरहसे मेरे पास ही रहना शुरू कर दिया था। और हम लोग दोस्तोंकी तरह रहते थे। अचानक एक दिन वह फिर गिरफ़्तार हो गया था। यह तो मुझे बादमें पता चला कि वह उस अधिकारीकी हत्याके अभियोगमें गिरफ़्तार हुआ है। बादमें पुलीस-अधिकारियोंने हमें भी उसमें लपेट लिया था लेकिन हमारे खिलाफ़ कोई सबूत नहीं था।"

"क्या, ये जो बातें आप कह रहे हैं, ये सब सच हैं?"

मुझे उसके इस प्रश्नपर आनन्द आया। मैंने सोचा, इसके लिए ये सब बातें आश्चर्य-जनक और अविश्वसनीय हैं।

"क्या अब हम लोग भाषण नहीं सुनेंगे?'

उससे बातें करते काफ़ी देर हो गयी थी, इसलिए मैंने स्वीकार कर लिया। मैं चाह रहा था कि यह आयोजन कितनी जल्दी खत्म हो और मैं अपने घर जाऊँ।

सामने मंचपर मैंने उसकी ओर देखा। वह अब काफ़ी बूढ़ा लगने लगा था। अब वह बूढ़ा ही नहीं, कुछ-कुछ कुरूप हो गया था और यह एक अच्छी बात थी कि इस शहरके लोग एक बूढ़े और कुरूपका अभिनन्दन कर रहे हैं।

जो वक्ता भाषण दे रहे थे वे इतने मूर्ख लग रहे थे कि मुझे लगा था, कहीं वह वृद्ध उठकर उन्हें पकड़ न ले, पर मैं जानता था, अब उस वृद्धमें इतना ज़ोर कहाँ है?

"आप काफ़ी दिलचस्प आदमी लगते हैं!" बग़लमें बैठे हुएने कहा।

मैंने देखा वह अविश्वासकी दृष्टिसे मुझे देख रहा था।

आयोजन खत्म हो जानेके बाद बाहर वह वृद्ध मुझे मिला और उसने सिर्फ़ इतना कहा कि "कभी-कभी अपमान करानेमें भी मज़ा आता है।" तभी मैंने देखा कि जो आदमी मेरी बग़लमें बैठा हुआ था वह अपने एक साथीको मेरी ओर इशारा कर कुछ बता रहा था।

मुझे यह सब नाटकीय लग रहा था। परन्तु उस आदमीके अविश्वाससे भरी आँखें जब भी सामने आती हैं मुझे लगता है कि आजकी शाम कलसे बेहतर रही है।

मैं धीरे-धीरे घरकी ओर आने लगा। शाम हो गयी थी और मुझे हलकी-सी खुशी हुई कि कल तारीख़ दूसरी होगी। ■■

हिन्दी कथा-साहित्यकी
प्रामाणिक और
महत्त्वपूर्ण
उपलब्धियाँ

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

देशके
सभी अच्छे
पुस्तक-विक्रेताओं-
से प्राप्य

सत्रह उपन्यास

- अपने-अपने अजनबी : 'अज्ञेय'
- शतरंजके मोहरे : अमृतलाल नागर
- जुलूस : फणीश्वरनाथ रेणु
- ग्यारह सपनोंका देश : सं०-लक्ष्मीचन्द्र
- सूरजका सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती
- शह और मात : राजेन्द्र यादव
- अठारह सूरजके पौधे : रमेश बक्षी
- पीले गुलाबकी आत्मा : विश्वम्भर 'मा
- जो : डॉ० प्रभाकर माचवे
- महाश्रमण सुनें ! उनकी परम्पराएँ सुनें
  मि
- तीसरा नेत्र : आनन्दप्रकाश जैन
- रक्त-राग : देवेशदास
- राजसी : देवेशदास
- संस्कारोंकी राह : राधाकृष्ण प्रसाद
- मुक्तिदूत : वीरेन्द्रकुमार जैन
- पलासीका युद्ध : तपनमोहन चट्टोपाध्याय
- गुनाहोंका देवता : धर्मवीर भारती

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय : ९ अलीपुर पार्क प्लेस, क
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराण
विक्रय-केन्द्र :

चरित्रहीन

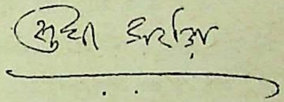

[सुधा अरोड़ा
पहली रचना : १९६५]

संगमरमरी फ़र्श-सीढ़ियाँ। खुला-बड़ा हॉल—इतना कि अपने अतिरिक्त छोटे होनेका एहसास हो आया था और मैं फ़र्श-देखते चलने लगी थी। या तो चुप बहुत थी या मैं चप्पलें घसीटकर चल रही थी कि मेरे चलनेकी आवाज़ मुझे सुनाई दे रही थी।

मैंने देखा नहीं था, पर मुझे मालूम था कि दायें-बायें गोल टेबल-कुर-सियाँ हैं, क्योंकि वे हमेशा वहाँ होती थीं और नहीं होतीं तो मेरा ध्यान उस ओर जाता ही।

मैंने अपनी साड़ीकी ओर देखा था।

इसने पूछा था—"यह पहले कभी तो नहीं पहनी तुमने ?"

"हुँ ऽऽऽ, शायद नहीं—शायद क्या, नहीं ही पहनी।"

"तो ठीक है।"

"क्यों ?"

"यानी वह आज पहली बार तुम्हें इस साड़ीमें देखेगा।"

मुझे लगा था किसीकी आँखें मुझपर हैं। कोई लगातार हमारी ओर देखता हो तो उस ओर न भी देखो तो पता लग जाता है। और एक हाथ उठा था। परिचित। बुलाता-सा। मैं झेंप गयी थी। उस-तक जानेमें पाँच बार चप्पलोंकी आवाज़ होती।

बायीं ओरकी कुरसीमें वह अकेला।

इसने फिर कहा था—"वह तुम्हें बहुत पहलेसे देख रहा था।"

"यानी जब मैं दरवाज़ेसे घुसी?"

"हाँ।"

"मैं न जाने क्या-क्या सोचते आ रही थी और उस सोचनेमें कैसे-कैसे चेहरे बने होंगे, और मेरी चाल····चप्पलें घसीटकर चल रही थी मैं। उसने इतनी देरमें ज़रूर सोच लिया होगा कि कैसी मूर्ख प्रेमिका है—चलना भी नहीं आता।"

"सोचा होगा।"

"और इतनी देरमें उसने मेरी अतिरिक्त दुबलाई देखी होगी।"

"देखी होगी।"

मैं उसके सामने थी। उसके हाथकी मैगज़ीन वैसी ही खुली। उसने जैसे भी कपड़े पहने हों पर वह उम्रसे छोटा लग रहा था।

कुछ बोलना ज़रूरी था—जो भी वाक्य बना—लड़खड़ाती जबानसे कह दिया—"बहुत देर हो गयी तुम्हें आये?"

"दस मिनिट हुए होंगे।"

"ओ'। मैंने सोचा—इतनी जल्दी तुम नहीं आओगे।"

"यह देखो, काफ़्काका ३८ पन्नोंका लम्बा खत····"

(अपनी प्रेमिकाके नाम?)

"मैं उसे कह आती हूँ कि तुम्हारे साथ जा रही हूँ।"

"किसे?"

"उस····'स-खी' को।"

"जाओ।"

अन्दर जाकर ज़बरदस्ती पाँच मिनिट लगा दिये थे। लौटी तो उसके साथ ही कोई 'साथ पढ़ती लड़की' मैगज़ीन देख रही थी।

"नमस्कार!" मैंने उससे ही कहा था पर उस तथाकथित लड़कीको दिखानेके लिए किया था। वह चौंका था।

"?" उसने मुँह पोंछकर नमस्कार उतार दिया।

"चलो।" शब्द गलेसे नीचे ही रह गये थे।

हम बाहर थे। और अधिक खुलापन। हम दो थे इसलिए दो अतिरिक्त छोटी ऊँचाइयोंका एहसास नहीं हुआ था।

खूब हरा-भीगा लॉन। दूर कमलके फूलोंवाला छोटा-सा पोखर।

किनारे लगे इतने सारे गुलाबके लाल-सफ़ेद-गुलाबी, खिले-झड़े फूल। कमलके फूलोंके ऊपरवाला पुल।

मैंने आदतके अनुसार ललचायी आँखोंसे गुलाबके फूलोंको देखा था।

इसने कहा था—"अभी वह पूछेगा कि तुम बीसवीं सदीमें आकर भी गन्धों और फूलोंका मोह नहीं छोड़ पायी?"

"पूछने दो, कह दूँगी मैं—मुझे फूल बेहद

पसन्द हैं। यहाँ माली न होते तो···"

मैंने उसे प्रकटमें कहा था—"सुनो, यहाँ माली न होता तो ये गुलाबके फूल तोड़ लेती मैं।"

"और यहाँ ये आँखोंवाले लोग न होते तो मैं तुम्हारा मुँह गुलाबके फूलोंसे भर देता।" —उससे यह शरारती वाक्य बना था।

"क्या मतलब ?"—मैं बन रही थी।

"सांकेतिक भाषा दुहरायी नहीं जाती।"

(मैं चाहती भी नहीं थी कि वह दुबारा बोले।)

"........"

"यह हिन्दोऽऽस्तान है न, यहाँ गुलाबके फूलोंपर पहरे रहते हैं, हर ख़ूबसूरत चीज़ पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं।"

"ख़ूबसूरत हरकतोंपर भी····"

"इन्वर्टेड कॉमावाले प्यार पर भी तो।"

यह सोच रही थी—कभी वह खतमें ज़रूर लिखेगी कि छठी इन्द्रिय तो क़रार हो ही चुकी है, प्रेम करनेवाली सातवीं इन्द्रिय अगर ईजाद हो जाये तो माँ-बाप या तो किसी सर्जनसे उस इन्द्रियका ऑपरेशन करवा डालें या उसमें ताले डलवा दें।

वही पोखर। वही घास। वही····

"उस दिन इस पोखरमें कमलके फूल थे, आज हैं क्या ?"

"हुँऽऽऽ" मैंने झाँकते देखा था, "ना, आज नहीं हैं।"

वह आगे पुलपर चला गया था। पीछेसे मैंने आवाज़ दी थी····

"रुक जाओ ना !" कोई एक सस्ता-सा फ़िल्मी गीत याद आ रहा था। शुरू यहींसे होता था····रुक जाओ ना जी····

वह वहीं रुक गया था। मैं उसके पास पहुँची तबतक वह नीचे झाँकने लगा था।

"ऐसा ही एक पुल जूमें है न ?"

"हाँ।"

"देखो, व्वो हमारी परछाईं हिल रही है।"

"हमारा सही रूप है वह !"

"कैसे ?"

"हम ऊपरसे जितने स्थिर दिखते हैं, अन्दर कहीं ऐसे ही कई-कई परछाइयाँ हिलती रहती हैं।"

वह अभी पाश्चात्य विद्वानोंके उद्धरण देने लगेगा, इस डरसे मैं पुलके तख्तोंके बीचकी जगहसे दिखते धुँधले हिलते पानीकी लकीरें देखने लगी थी।

"कलसे जो नया साल आनेवाला है वह साल भी तो हमारे लिए पुल है।"

उसने हथेली थाम ली थी और मैं सोच रही थी—उसने नये सालकी डायरीमें पहली पंक्ति यही लिखी है—"····यह साल हम दोनोंको जोड़नेवाला पुल है। आ, पाँव जमा-जमा कर चलें।"

दूसरी पंक्ति थी—"सूरज यार है, भविष्य ग़ुलाम।"

....

और पुल छोड़ते मैंने एक नज़र उस 'यार'पर डाली थी। चमक रहा था (हमारी आँखोंकी तरह)····ग़ुलाम मुझे नज़र नहीं आया था। और हम चुप थे। चुप। चुप।

चुप····उसने पूछा था—"घर लौटनेकी जल्दी तो नहीं ?"

"है। आधे घण्टेमें लौट जाऊँगी।" मैं रुक गयी थी।

रुकी रह गयी थी और फूलोंको देख रही थी।

"आजकी ज़िन्दगी यहीं गुज़ार देनी है ?"

हँसी। "चलो।"

उसने गेट खोला था और हम सड़कपर थे। सामने कलकत्ता था, लॉन नहीं था; परिचित-अपरिचित लोग थे, हथेलियाँ नहीं थीं; रेंगती-अरेंगती कारें थीं, कमलके फूलों वाले पोखर नहीं थे। हम चल रहे थे जैसे चलना एकमात्र उद्देश्य हो—चुप हमारे साथ चल रही थी।

"कहाँ जा रहे हैं हमलोग ?"

उसने जवाब नहीं दिया था····

मैं बोलती बहुत हूँ—यह लग आया था। ऊपरसे चुप भी रहूँ तो अन्दर-ही-अन्दर वार्तालाप होते रहते हैं। चाहकर भी यह आदत छूटती नहीं।

इसने समझाया था—"फ़ुटपाथ चलनेके लिए होते हैं, बातें करनेके लिए नहीं।"

"हुँह !"

बोल ही पड़ी थी मैं—"भई, कहाँ जाना है हमें ?"

"उस अपनी 'इन्वेण्टेड प्लेस'में चलते हैं।"

"वह 'पॉकेट-एडीशन' बोटैनिकल ?"

"नहीं, वह हमारा अपना········" और उसने अपने नामके आगे बोटैनिकल जोड़ दिया था।

फिर वह आगे। मैं पीछे।

थोड़ी देर बाद उसने पीछे मुड़कर देखा और रुक गया था।

"इस तरह हमें पीछे छोड़कर खुद आगे निकल जाओगे तो कैसे कटेगी ?" बोली थी मैं।

"तुम ही साथ नहीं चल पा रही हो, चींटियों-सी चाल है तुम्हारी।"

"और लोगोंको तो पत्नियोंके साथ चलने में शर्म आती है, तुम्हें प्रेमिकाके साथ चलने में ही····"

उसने फिर कहा था—"उसने लिखा था न तुम्हें, कि मैं तो तेज़ीके साथ आगे बढ़ता हुआ सूर्य हूँ, रुकना मत—नहीं तो पीछे रह जाओगी।"

हमारी बग़लसे कितनी ही कारें गुज़र गयी थीं। हर कार अपनी और हर व्यक्ति परिचित लग रहा था, तो मैं जान-बूझकर उससे पीछे चलने लगी थी।

"उफ़, आज क्या हो गया है तुम्हें ?"

"तुम आगे ही चलो। कोई परिचित मिल गया तो ?"

"तुम भविष्यकी इस-उस आशंकासे इतनी कॉन्शस हो जाती हो कि वर्तमानको भी ठीक से जी नहीं पाती।"

हम अपनी खोजके सामने थे। उस पार्क के मेन गेटपर ताला।

अन्दर काम करता कोई माली। पार्कमें के झूले झूलते वहाँ काम करनेवालोंके बच्चे।

"आज बन्द क्यों है ?"

"पूछ लो।"

मालीने बताया, सालका आखिरी दिन है इसलिए बन्द है।

हम थोड़ी देर वैसे ही खड़े रहे।

"अब ?" हम दोनोंके चेहरोंपर लिखा एक ही प्रश्न।

मैंने मजाक़ किया—" 'नो-एण्ट्री' के साईनबोर्ड तो यूँ भी जीवनमें आने ही हैं फिर पहलेसे इनके अनुभव क्यों न हों ?"

"हाँ बन्धु, अपनी राहोंमें तो जगह-बेजगह 'नो-एण्ट्री' के बोर्ड लगा दिये गये हैं।"

"मैं घर जाती हूँ।"

ढीलापन।

"वो····टैक्सी ऽ ऽ ····"

"अरे ?"

टैक्सी। मीटर डाउन।

"किधर जाना है ?"

"चलिए, यही····सीधे····मैदान तक।"

मेरी हथेली उसके पास।

"इधर देखो !"

"ऊँ-हुँ...."

ड्राइवरकी नज़रें सामने वाले मिररसे मुझ तक।

"देखो ना····!"

"क्यों ऽऽ····? नहीं देखते।"

उसने मेरा 'पेट-नेम' पुकारा।

....

"बस्स ऽ ऽ····"

टैक्सीके झटकेसे रुकनेकी चिरियाहट।

"यह कहाँ उतर गये ?"

"रुपये हैं तुम्हारे पास ?"

"अँ-अँ····होंगे।"

मीटर अप—'फ़ॉर हायर'। टैक्सी-ड्राइवर की पीछा करती निगाहें।

उँगली पकड़कर रोड-क्रॉस।

"यह क्रॉस करते वक़्त हाथ क्यों पकड़ लेते हो ?"

"डर लगता है, कहीं ऐक्सीडेण्ट न हो जाये तुम्हारा !"

"हो जाये तो अच्छा हो, पाप कटे।"

"हुँ।" इस सन्दर्भ पर फ़ुलस्टॉप।

"अच्छा, मान लो, सचमुच हो ही जाये तो ऽ ऽ ?" फ़ुलस्टॉपपर यह वाक्य।

"तो मैं तुम्हें यहीं छोड़ जाता।"

"कैसे ?"

"कहता—कोई लड़की थी, किसीकी यादमें मग्न जा रही थी, मैं नहीं जानता—कौन है।"

"........"

"बस, यहाँ बैठ जायें ?"

"इस गन्दी घासपर ?"

"जनाब, हम तो फ़ुटपाथों पर सोये हैं, आपको इस अच्छी-खासी घासपर बैठनेमें ही संकोच हो रहा है ?"

"यह मैदान घिरा हुआ नहीं है, और फिर कैसे-कैसे लोग यहाँ बैठे हैं !"

"काश, कि हम 'कैसे-कैसे लोग' ही होते। सभ्यताने हमें इन घासोंपर-से भी उठा दिया है।"

"आगे कहीं बैठते हैं····"

आगे। आगे। आगे। खुला-सपाट मैदान। रेसकोर्स पार कर हेस्टिंग्सकी ओर जानेवाला चौराहा—दूर।

वह हर वाक्य लयमें बोलने लगा था—
"अ ऽ ब कहाँ ऽ ऽ ऽ जायें ऽ ऽ ?"

"यह क्या गाने लगे तुम ?"

"गाना गुनाह है ?"

"नहीं, पर सड़कपर गाना तो गुनाह है ही !"

"यह नयी फ़िलॉसफ़ी है। जबान है तो गायेंगे ऽ ऽ ऽ ही।"

"हे भगवान !"

"यह ईश्वर-अल्लाह, खुदा—भगवानको हमारे सामने मत याद करो।"

"........"

लगातार चलना और चलना।

"देखो तो, मेरी चप्पलें और तुम्हारे जूतोंमें धूल जमी जा रही है।"

"धूल तो हमारी क़िस्मतपर ही जमी है। फिर जूतों-चप्पलोंमें तो क्यों नहीं जमेगी ?"

"उफ़ ! इतना बड़ा शहर और कोई ऐसी एकान्त जगह नहीं कि ठीकसे चल-बैठ सको।"

"टैक्सी कर लें ?"

"क्यों ?"

"किसी बेहतर जगह चलते हैं।"

"नहीं अब देर हो रही है।"

"चुप्प ! अभी नहीं जाना।"

"जाना है।"

"ज़िद करोगी तो घरसे निकाल देंगे।"

"ऐसा ?"

"पर पहले आ तो जाओ, निकालनेकी इजाज़त माँसे ले लेंगे।"

"वो रही टैक्सी।"

"गैरेज लगा रखा है।"

"रोको तो।"

उसने रोकी और टैक्सी रुक गयी। बोर्ड-बदल।

"हमारे कामों और वर्तमानके रास्तोंमें जो गैरेज और रास्ता बन्द लगे हैं उन्हें भी कोई इस तरह बदल...."

"कित्थे जाना है ?" टैक्सी-ड्राइवर सरदार था।

"आज तुआडी मरजी सरदार जी, कहीं भी ले चलो।"—उसने पंजाबी बोलनेकी कोशिश की थी।

"वाटर गेट ले चलें, पास है।"

"हाँ ऽ ऽ !"

"बड़े मज़ेसे हाँ-आँ-आँ कर दिया, हमें देर हो रही है।"

"आओ....!" शरारती आँखें।

"हमने फ़ुटपाथोंकी संवेदनाएँ भोगी न भोगी हों, टैक्सीकी संवेदनाएँ ज़रूर भोगी हैं।"

"टैक्सी तो माध्यम है, साधन है मंज़िल तक पहुँचनेका। साध्य थोड़े ही है !"

"यह एक पोस्टकार्ड पढ़ो।"

"अरे, यही महाशय कह रहे थे कि उस लड़कीको आता क्या है....और तुम्हें 'प्रशंसामय' पत्र लिखते हैं।"

"छोड़ो, इन...."

"वो हुगली...."

वा—

ट—

र—

गे—

ट—

लोहेके रेलिंगके बीचसे झुककर निकल आये हम लोग। सामने एक बेंच—हरे रंग की। छींटोंवाली। पत्थरकी। सामने ढलान। उससे नीचे हुगली। स्टीमर-बड़े-छोटे। खूब सारी जेटियाँ। दुपहरी रौनक़।

वह चुप था—शायद हुगलीके कारण चुप था।

इसने कहा—"कभी इस हरे छींटके रंग-की साड़ी पहनी जाये तो ?

"क्या हो !"

मैंने उससे कहा—"यह जगह तुम्हें पसन्द है न !"

"हाँ...., बुरी मनस्थितियोंमें ये ज्वार-भाटे ही उनके समानान्तर पड़ते हैं तो हुगलीके क़िनारे आ जाते हैं।"

"वह....उसे क्या कहते हैं ?"

(उसने कहा—'क्या मूर्खतापूर्ण सवाल पूछ रही हो।')

"वही तो है, तख्ता पुल और वह स्टीमर। सामान इसीके सहारे बाहर लाया जाता है और जानती हो, जब ज्वार आता है तो यह पुल यूँ ऽ ऽ ऽ ऊपर उठ जाता है। पूनमकी रातको बारह बजे सबसे ऊँची लाट आती है...." वह जैसे किसी बच्चेको हाथ हिला-हिलाकर समझा रहा हो।

"और ?"

"और तुम सुनाओ—अपने अड़ोसी-पड़ोसी की।"

"ये अड़ोसी-पड़ोसी, टीचर-प्रोफ़ेसर सब इस-इस तरहसे देखते हैं मुझे कि मैं बरदाश्त नहीं कर पाती। एक वो प्रोफ़ेसर हैं न—ऐसे कटे-कटे रहते हैं मुझसे और ऐसे देखेंगे जैसे कोई सज़ा काटकर आयी हूँ। कभी मुझे इनके कारण आतमहत्या करनी पड़ी तो ?"

"वे तुम्हारे कारण आतमहत्या भले कर लें, तुम क्यों करो।"

"तुम अपने जीवन-जगतकी सुनाओ। मैं तो अपने भूत-भविष्यके बारेमें सोच ही नहीं पाती।"

"छोड़ो। चलो। 'अभी' को जीयें।"

"उस तख्ता-पुल पर चलें ?"

"क-म !"

सीढ़ियाँ—संगमरमरी और सीमेण्ट-गारे-की बनी नहीं, काठकी। लकड़ीके तख्तोंसे बना पुल। हुगलीमें डूबे-उभरे झाँकते लोग।

रेलिंग़से, एक-दूसरेसे सटे हम।

"चाय पीओगी ?"

"नहीं।"

"पी लो।"

"न।"

"मैं तो पीऊँगा !"

"ले लो।"

"एक चाय देना।"

"इस कुल्हड़से कैसे चाय पी लेते हो ?"

कुल्हड़में चाय। सात नये पैसे।

"लाओ, मैं पीकर देखूँ।"

कुल्हड़ मेरे हाथमें। चाय गरम-तीती।....

"छिः, यह तो अदरकवाली चाय है। यह अदरक-कुल्हड़ मुझे पसन्द नहीं।"

"यह कुल्हड़ ही तो हमारा नसीब है।"

"फेंको–इस नसीब को !"

"चाय तो पी लें, भाई।"

"ज़बान अभी तक खराब हो रही है।"

"हुँ....चलो, फेंका।"

पानीमें हिचकियाँ भरता कुल्हड़, पानी भरकर तहमें।

"पानी-पासकी सीढ़ी पर चलें ?"

"चलो।" हम आमने-सामने।

"मेरे पास आओ।" हम अगल-बग़ल।

"चलो, डूब जायें।"

"पहले मुझे डुबा दो।"

"तुम कोई कुल्हड़ हो ?"

"नहीं हूँ ?"

"न !"

"मैं तुम्हारी नसीब नहीं हूँ ?"

"हाँ, वह तो हो।"

"सच्ची ?"

"तुम न होती तो हमारा नसीब नसीब थोड़े होता।"

"फिर क्या होता ?"

"न-सी-बा होता।" और नसीबा कहतेमें उसके ओठोंकी बनी प्यारी शक्ल....

हुगलीपर तैरती जेटियाँ नहीं, हँसी। शुद्ध हँसी।

"कहो, कौन पहले डूबेगा ?"

"मैं। पर मैं जूते उतार जाता हूँ—खयाल रखना।"

दुहरी हँसी।

"वह लतीफ़ा सुना है तुमने कि एक आदमी ट्रेनसे मरने गया। ट्रेन लेट थी तो वह साथ टिफ़िन कैरियर ले गया था कि खाना खा लेगा...."

"हाँ, तुम्हारा टिफ़िन कैरियर मैं जो हूँ।"

"तुम तो यार, खाना हो।"

जेटियोंसे टकराती दुहरी-तिहरी हँसी।

"वो जेटियाँ देख रही हो ?"

"हुँ...."

"उनमें रहनेवालोंका पूरा-पूरा परिवार यहीं रहता है। यहीं खाना-पीना-सोना।"

"ये उनका घर है ? आश्चर्य !"

"हाँ, उनके तो बच्चे भी यहीं पैदा होते हैं।"

"वेरी-गुड।"

"और कभी हमें कोई एक छोटी-सी जेटी दिलवा दे तो यह नौकरी-औकरी छोड़कर सुखसे रहें।"

"तुम्हारा क्या है ? तुम तो ज़ूकी झाड़ियों में, ईडन गार्डेनके उस पाँच हाथके कोनेमें, उस कुँएके पासवाले कमरेमें, फ़स्र्ट क्लासके एक छोटे-से कूपेमें भी रह सकते हो।"

"तुम्हारी आँखोंमें भी रह सकते हैं, यह नहीं कहा।"

"........अच्छा ?"

"पर तुम साथ रहो तब !"

"मैं तो साथ हूँ ही तुम्हारे।"

"और पास आओ।"

पास।

"तुम पास होती हो तो एक गन्ध आती है।"

"कैसी गन्ध ?"

"तुम्हारी गन्ध !"

"मुझे भी आयी थी उस दिन जब...."

"तुम उस गन्धको रैलिश करती हो या टॉलरेट करती हो ?"

"मैं तो टॉलरेट करती हूँ !"

"मगर मैं रैलिश करता हूँ ! टॉलरेट मैं कर ही नहीं सकता !"

"गन्ध भी कोई रैलिश करनेकी चीज़ है ?"

"नहीं है ?" जब वह प्रश्नका उत्तर प्रश्नसे देता है तो बड़ा अच्छा लगता है ।

पास खड़ा एक स्टीमर ।

"नाम पढ़ सकती हो ?"

"...." चश्मा मैंने पहना नहीं था और उसे यह दिखाना बताना नहीं चाहती थी कि मेरी आँखें कमज़ोर हैं ।

"देखो, लिखा है—ओग्निजोय !"

"हाँ, ए-जी-एन-आई-जे-ओ-वाइ ।"

"घर चलो ।"

"आजकी भरी दुपहर अच्छी बीती—मैं प्रसन्न हूँ !"

"ऐसे कहो—आजका ३६५वाँ दिन अच्छा बीता ।"

"तीन-छह-चार-आधा ।"

खिलखिलाहट । एक व्यक्तिका घूमकर देखना-घूरना ।

"उस तरफ़ चलो, टैक्सी मिल जायेगी ।"

"नहीं, इधर चलो ।"

"उधर ।"

एक टैक्सी पाससे गुज़रती । धीमे ।

"लोग टैक्सियाँ रोकते हैं, यहाँ टैक्सियाँ खुद हमारे लिए रुकती हैं ।"

मैंने देखी । तुम तो मिस करते अभी ।"

"कैसे मिस करते । हमने अपनी ज़िन्दगी में कभी कोई चीज़, कभी कोई क्षण मिस नहीं किया फिर...."

"कभी कोई लड़की भी मिस नहीं की होगी ।"

"श्यो....र ।"

हम टैक्सीमें ।

' वो हमारे मास्टर साहब लग रहे हैं...."

"होंगे भा ऽ ऽ ई, हमें देखेंगे तो अपना वक़्त याद कर लेंगे ।"

इन राम-कृष्णकी परम्पराके लोगोंके भी वक़्त होते हैं क्या ?"

"सब होते हैं, बनते हैं ये लोग ।"

"........"

"छोड़ो—इनकी बातें बोर करती हैं मुझे । ये हम लोगोंको बरदाश्त कर ही नहीं सकते ।"

"ऐसे मत कहो ।"

"हाँ, तुम्हारे आदरणीय गुरुजी जो हैं ।"

चौरंगी स्क्वायर ।

"यह तुम्हारे हाथमें क्या है ?"

"कुछ नहीं—वह शीलाजीने मेरी चित्रों-की सूची बनायी है ।"

"कितने ?"

"यही तीन-चार ।"

"मैंने तो सोचा जिन लड़कोंसे तुम्हारे सम्बन्ध रहे हैं—उनकी सूची है ।"

"क्या कहा ?" सायास और तीखी आवाज़ ।

मेरा मुँह दूसरी ओर । सीटके बैकपर सिर टिकाये । ढीली ।

"तुनक गयीं ?"

"..........."

"अरे भाई, सम्बन्ध होंगे तो होंगे, मैं तो टॉप कर गया हूँ न उनसे ।"

"..........."

"बोलोगी नहीं !"

"..........."

"इतनी दूर बैठी हो, पास आओ ।"

और मैं शिथिल हो गयी थी ।

"न, यहीं ठीक है ।"

"मुझे लूज़ मत करना—यार !"

कन्धेपर उसका हाथ ।

"बोलो भई ।"

"..........."

"मौन-व्रत है क्या ?"

"न-हीं !"

"नहीं बोलोगी तो तुम्हारा शहर छोड़-कर चले जायेंगे !"

"शहर ही क्यों, मुझे छोड़ जाना ।"

"तुम तो सच नाराज़ हो गयीं ।"

"आनेवाला है घर तेरा ।"

"..........."

"अपने आदरणीय बाऊजीको प्रणाम कहना !

"और माँको ?"

"चरण-स्पर्श !"

उसने हाथ दबाया था—"कल नया साल है, सुबह उठते मुझे याद करना ।"

मैं बिना कुछ कहे उतर गयी थी । उसकी ओर देखा भी नहीं था । उसने एक काग़ज़ थमाया था । टैक्सी चल पड़ी थी । मन हुआ था मुड़कर न देखूँ । पर देख लिया था । वह पीछे देख रहा था । उसने हाथ हिलाया था । ओंठ भी हिले थे—"बाऽऽई" मेरा केवल हाथ हिला था । वह काग़ज़ देखा, लिखा था—"१ जनवरी '६६ को—सूरजकी ओर मुँह घुमाकर बैठ । आनेवाले दिनोंकी कल्पना करनी है न !"

मोड़ लिया था वह काग़ज़ । लगा था—टैक्सीमें कुछ छोड़ आयी हूँ । अकसर ऐसा लगता है । साथ थी शिथिलता और ढीलापन । हथेलीमें मुड़ा-तुड़ा काग़ज़ और आँखोंके सामने कमरों, दीवारों, फ़र्शों, छतों, खिड़कियों और परदोंवाला घ-र । ■ ■

ज्ञानोदय के मार्च
तथा अप्रैल अंकों में

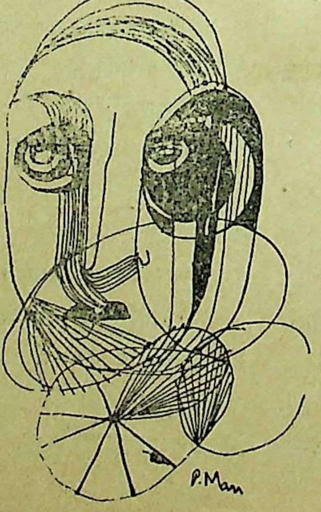

गजानन माधव मुक्तिबोध
की
लम्बी कहानी
वि पा त्र
विशेष टिप्पणी सहित

१९६५
में
'भारतीय
संस्कृति-संसद्'
कलकत्ता द्वारा
प्रवर्तित
तथा
२४, २५, २६ दिसम्बरको
सम्पन्न

कथा समारोह

अधिकृत ध्वनिलिपिसे तैयार किया गया वह शब्दशः सविशेष विवरण, जो केवल ज्ञानोदय में ही पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है।

कथा-मंच :

वृन्दावनलाल वर्मा ।
जैनेन्द्रकुमार । विमल मित्रा ।
भगवतीचरण वर्मा । अमृतलाल नागर ।
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार । मोहन राकेश ।
देवीशंकर अवस्थी । राजेन्द्र यादव ।
भीष्म साहनी । लक्ष्मीनारायण लाल ।
शिवप्रसाद सिंह । कमलेश्वर । कृष्ण बलदेव वैद ।
हरिशंकर परसाई । रजनी पनिकर । मन्नू भण्डारी ।
शरद जोशी । धनंजय वर्मा । राजेन्द्र अवस्थी ।
श्रीकान्त वर्मा । शैलेश मटियानी । रमेश बक्षी ।
दूधनाथ सिंह । रवीन्द्र कालिया । ममता कालिया ।
सुदर्शन चोपड़ा । गंगाप्रसाद विमल ।
सीताराम सेकसरिया । लक्ष्मीचन्द्र जैन ।
भँवरमल सिंघी । प्रतिभा अग्रवाल । कृष्णाचार्य ।
कल्याणमल लोढ़ा । विष्णुकान्त शास्त्री ।
कुन्था जैन । किरण जैन । चन्द्रदेव सिंह ।
अक्षयचन्द्र शर्मा । भीमसेन त्यागी ।
जगमोहनदास मूँधड़ा ।
परमानन्द चूड़ीवाल ।

- सवाल जीवनदृष्टिका है
- समकालीन बोधमें-से जनमी जीवनदृष्टि
- उपलब्धियाँ, उभरती दिशाएँ और आधुनिकताके सन्दर्भ
- समकालीन बोध और दायित्व : कथाचिन्तन की मज़बूत ज़मीन
- कथाशिल्प : प्रयोगकी प्रक्रियाका प्रयोग
- कथाकार और पाठक : जिज्ञासाएँ एवं अपेक्षाएँ—छोटे-छोटे कठघरे
- समापन : जीवन्त मंचकी प्रतिष्ठा

कलत्ताका बहुचर्चित कथा-समारोह कई दृष्टियोंसे हिन्दी कथा-साहित्यकी एक दिशान्तर घटना है कि इसने पीढ़ियोंके संघर्षके बीच जीवनदृष्टिकी चर्चापर ध्यान बँटाया, कि इसने नयी कहानीके स्वरूपको और स्पष्ट करते नयी पीढ़ीके स्वरोंको रेखांकित किया, कि इसने समकालीन बोध और शिल्पकी प्रक्रियाका विश्लेषण करते स्पष्ट कर दिया : कथा-रूढ़ियाँ कैसे और क्यों टूटती जा रही हैं तथा क्यों अभी भी फ़ार्मूलेकी नींवपर सायास कथा-महल बनाकर मनोरंजनका सृजन और पाठकोंकी वाहवाहीका अर्जन किया जा रहा है।

इस समारोहमें सर्वश्री यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क, धर्मवीर भारती, अमृता प्रीतम, कृष्णा सोबती, गंगाधर गाडगील, राजेन्द्रसिंह बेदी, भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, अमरकान्त, शानी, ज्ञानरंजन, मनहर चौहान किन्हीं कारणोंसे न आ सके फिर भी उपस्थित कथाकारोंके द्वारा बदलती दृष्टि, उम्र, समय, बोध और चिन्तनका ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व हुआ। सातों गोष्ठियोंका अधिकांश विवरण शब्दशः और कुछका अंशतः अगले पृष्ठोंमें प्रस्तुत है। हमने कैंचीसे नहीं, क़लमसे सम्पादन किया है इसलिए हिन्दीके समकालीन कथा-मंचकी दूध-धोयी तसवीर सामने उभरती दिखाई दे सकती है क्योंकि कथा-समारोहकी प्रेरणा अवसरीय नहीं, समकालीन थी — हिन्दी कथा-साहित्यको समझने-समझानेकी भूमिका इच्छाके रूपमें कार्य नहीं कर रही थी—एक अनिवार्यताके रूपमें उत्प्रेरित कर रही थी....

'…सुनते हैं गरमागरमीमें मंचपर कुरसियाँ भी उछलती हैं लेकिन…'
कथा-मंचपर समारोहकी परिकल्पना बतलाते श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन।

१ सवाल जीवनदृष्टिका है….

२४ दिसम्बर १९६५। शाम ५ बजे। अध्यक्ष : जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, कमलेश्वर। वक्ता : सीताराम सेकसरिया, जगमोहनदास मूँधड़ा, लक्ष्मीचन्द्र जैन। शिक्षायतनके सभागारमें आगत कथाकारोंका संस्कृत स्वागत। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनने कथा-समारोहपर संसद्की दृष्टि सामने रखी : कलकत्तेमें कवि-सम्मेलन, मुशायरे, नाट्य-समारोह कितने-कितने आयोजन हुए हैं, सबके मूलमें साहित्यके प्रति जिज्ञासा रही है। कथा-व्यापक चर्चाके लिए यह आयोजन उसी इच्छाकी एक कड़ी है। यह ज्ञान था कि बहुत-बहुत बातें होती हैं, कई-कई दल हैं, उग्र प्रतिबद्धताएँ हैं। सुनते हैं, गरमागरमीमें मंचपर कुरसियाँ भी उछलती हैं लेकिन हमारे परिपत्रों और प्रारूपोंमें विषयको महत्त्व दिया गया है और उनपर विवाद भी नहीं है। मंच इसलिए है कि आपकी बात हम समझ सकें और मंच इसलिए भी है कि कथाकार एक-दूसरेसे अपनी बात कह सकें। आप सोचें और बता सकें कहानी लिखते समय आपकी जीवनदृष्टि क्या थी, क्या उपलब्धियाँ हैं, कौन-सी बात आप कहना चाहते थे, आपको आत्मसन्तोष मिला या नहीं, यदि असन्तोष भी मिला तो इसका स्वरूप क्या है?

जैनेन्द्रकुमार : यह कथा-समारोह तनिक विशिष्ट है कि सभी तरहके कथाकार यहाँ हैं । कुरसी उछलना मैंने भारतमें नहीं देखा है ! यह लंकामें देखा है और जिसके पास उछालनेके लिए शब्द हैं वह कुरसी क्यों उछालेगा ? जितना जो कुछ लक्ष्मीचन्द्रजीने कहा पहले तो उससे मनमें आतंक छा गया और उसके बाद जो अपेक्षाएँ उन्होंने रखीं हम सबसे, उससे कुछ घबराहट चढ़ गयी । मैंने ज़िन्दगीमें केवल एक इम्तहान दिया है, वह काफ़ी है । बार-बार इम्तहानमें पड़ूँ इसी डरसे मैं आता नहीं था । कहानी लिखते तो मैं लिख जाता हूँ पर कहानीके बारेमें पूछ-ताछ होगी और परीक्षा होगी अगर आजसे मुझे ऐसा पता लग जाये तो शायद अबसे लिखना बन्द कर दूँ क्योंकि मेरा अपना अनुभव यह है कि जानना जब काफ़ी नहीं होता है, उससे मन नहीं भरता है, तब कहानी शुरू होती है और कहानीकी भाषा जीनेकी भाषा है, जाननेकी भाषा नहीं । जाननेकी भाषा जो कहानीपर लादते हैं और अपेक्षा करते हैं कि कहानीकारसे कुछ जानकारी भी हासिल करें, कहानीके सम्बन्धमें, वे शायद ज़्यादती करते हैं । मैंने कहानी लिखी, किस जीवनदृष्टिसे लिखी…'जीवनदृष्टि' शब्द कुछ ऐसा लम्बा भारी भरकम शब्द है कि जीवनदृष्टि शब्द उस समय मेरे कानपर आ जाता तो शायद कहानी लिखी नहीं जा सकती थी । कहानी लिख गये लेकिन जीवनदृष्टिका, वक्तव्यका पता नहीं है, वह अब तक निर्मित नहीं हुई क्योंकि जब भी दृष्टि कोई बनती है; जीवनमें ऐसी कुछ घटनाएँ देखनेमें आ जाती हैं, कि वह दृष्टि फिर लिप-पुतकर साफ़ हो जाती है । ऐसा मालूम होता है कि दृष्टि न बन पाये तभी कहानीकारके लिए खैरियत है । जहाँ जम गयी दृष्टि, फिर आप कुछ तत्त्ववाद लिखिए, कुछ और लिखिए, कुछ उपदेश दीजिए, कुछ प्रवचन दीजिए और बहुत-से काम हैं…जिसके पास जीवनदृष्टि प्राप्त हो गयी, वह तो सिद्ध हो गया । फिर उसको कहानी लिखनेकी आवश्यकताका ख़याल रहना ही नहीं चाहिए । मैंने तो कमसे कम कहानी दृष्टि प्राप्त करनेके लिए लिखी, दृष्टिदानके लिए नहीं । मुझे लगता है कि जीवन, कितना गूढ़ अनन्त, विलक्षण और रहस्यमय तत्त्व है कि नहीं लगता, कोई दृष्टि ऐसी हो सकती है जो यहाँसे वहाँ तक घेरेमें उसे बाँध ले ! होते होंगे कोई सिद्ध लोग, पहुँचे हुए लोग जो घेर लेते होंगे जीवनको । लेकिन मालूम नहीं कि वे अपनेको कितना घेर लेते हैं । शायद जीवनके नामपर वे अपनेको घेर लेते होंगे । जीवन तो क्या घिरता होगा क्योंकि जीवन तो अनन्त है । अनन्त काल है लेकिन अनन्त काल भी जीवनकी अनन्तताको समाप्त नहीं करता है, चुकाता नहीं है । दिमाग़ है, हर एकके पास है, और क़रीब-क़रीब हर आदमी यह सोचता है कि जो उसके पास है और जितना है वह दूसरेके पास नहीं है, एक उसके पास है और आधामें सारी दुनिया है । अक़्ल चीज ही ऐसी

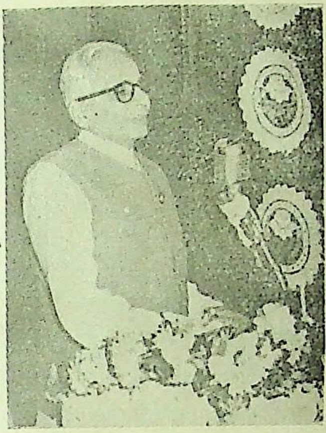

जैनेन्द्रकुमार : '...तबसे कहानीका लिखना मेरा चलता रहा है लेकिन मेरे मनमें बात बँध गयी कि कहानीका जानना कुछ होता नहीं है।'

कहानीका इष्ट

भगवतीचरण वर्मा : 'भावनात्मक अभिव्यक्ति केवल मनोरंजन-द्वारा होती है। भावना उस समय आती है जब हमारा मनोरंजन होता जाये।'

है। दूसरेका धन बड़ा लग सकता है लेकिन दूसरेकी अक़्ल कभी बड़ी नहीं लग सकती। तो मेरे मनमें शुरूसे इस अक़्ल नामकी चीज़का अविश्वास रहा। और मैंने जब लिखना शुरू किया तो मुझे ऐसा लगा कि प्रश्न और संशय शुरूसे ही आ गया है। लिखने लगा तो लगा, संशय हुआ कि क्या यही ठीक है, इतना ही ठीक है? ये जितने भी हमारे मत हैं, मान्यताएँ हैं कि हम जमकर बैठ जाते हैं, जिसके लिए अक़्लको हम मौक़ा देते हैं कि वह फ़ैसला करे, मुन्सिफ़ बने। यदि दुनियाको खण्डित कर दें, वर्गोंमें बाँट दे तो यह अपनेपनके मोहसे होता होगा। इसका मूल्य सन्दिग्ध है। यह काम बड़े लोगोंके लिए ही छोड़ देना चाहिए। मेरे लिए तो जिज्ञासा ही काफ़ी है। ज्ञानी बनने की अभिलाषा मेरे बसकी है नहीं। मेरे लिखनेका कारण जिज्ञासुता और सप्रश्नता है। जिसको कहानी लिखना है उसको विज्ञतासे घबराना चाहिए और अज्ञताको कभी छोड़ना नहीं चाहिए। जो ज्ञान सत्य है, टिकनेवाला है उसका रूप सत्यका है, मतवादिताका नहीं है। ज्ञान वह है जो जीवनको समर्थ कर सकता है। जाननेकी इच्छा ही बुद्धिमत्ता का लक्षण है—जो जान गया कि वह जानता है, जान चुका है, वही है जो नहीं जानता है। और जो यह जानता है वह इच्छुक रहता है। अगर कोई विचार है तो उसे आचारमें परिणत करें। दूसरोंसे टकरानेके लिए वह उसे नहीं फेंकता। वे लोग जीवनमें परास्त हो गये हैं, टूट गये हैं, बिखर गये हैं जिन्होंने जीवनमें केवल जाना ही जाना है। दो के

बाद जिन्होंने तीन-चार एम० ए० किये हैं उनकी गति आप देख लीजिए कि क्या हो गयी है ? जीवनमें-से जो उपलब्ध होता जाता है और फिर जीवनपर घटित होता जाता है वह तो ज्ञान है । मैं तो इसीमें खैरियत देखता हूँ कि किनारेसे निकल जाऊँ । हमारे कहानी-लेखक बिरादरीमें-से कोई इसका जवाब देगा । इस समारोहकी निष्पत्ति क्या होगी मैं कह नहीं सकता । कथाकी गतिमें वेग आयेगा, आये तो बहुत अच्छा है । लेकिन अधिक सम्भव यह भी है कि अवरोध आयेगा । क्योंकि कहानी लिखी जाने और पढ़ी जानेसे, चर्ची जानेकी चीज़ हो जाये तो समझ लीजिए कि वेग आयेगा कि अवरोध ? कहानी एक ऐसी चीज़ है कि लिखनेवाले और पढ़नेवालेके बीच किसी बिचौलियेकी आवश्यकता नहीं होती । ईश्वर और मनुष्यके बीच पुजारी इत्यादि इतने लोग होते हैं कि ईश्वर गूढ़ होता चला जा रहा है । मैं मानता हूँ कि कहानी भी ऐसी ही सीधी-सादी चीज़ है कि उसमें एक हमारा बिचौलिया हो जो लेखक और पाठकके बीच कहानीकी व्याख्याएँ करे तो मैं मानता हूँ कि कहानी जब-जब पाठक और लेखकके बीच पढ़ी जाती है समझी नहीं जाती । यह सम्भव है कि इस व्यवधानके कारण पाठक भी प्रभावित हो कि कितनी ऊँची चीज है जो हमारी समझमें नहीं आयी । और लेखक भी समझें कि पढ़नेवाले चमत्कृत रह जाते हैं — इससे बड़ी चीज़ क्या है ? आम तौरपर जो चीज़ समझ ली जाती है उसका क्या मूल्य है, वह तो बहुत सस्ती चीज़ है । ऐसी चीज़ होनी चाहिए जिसे समझनेमें दिमाग़ पर ज़ोर पड़े । इस व्यवधानमें आलोचक, प्राध्यापक, समीक्षक, कथा-ज्ञानी आदिका समावेश हो जाता है तो मैं मानता हूँ कि कहानीकी प्रतिष्ठा उससे बढ़ती ही है । एक और चीज़ है जिसके बारेमें चर्चा चलती रहती है कि यह जो समय है, युग है, समाज है, वर्तमान है इसके साथ कहानी और साहित्य का सम्बन्ध क्या है ? कहते हैं कि साहित्य दर्पण है समयका, युगका । दर्पण ही हो तो साहित्यसे जो अपेक्षाएँ हैं वे पूरी नहीं हो सकेंगी । अगर केवल मात्र प्रतिबिम्बन हो तो वह काम पूरा हो नहीं सकेगा । इसलिए मुझे लगता है कि जो वस्तुगत तथ्य है, जो समय पर प्रतिफलित दीखता है, उसको ज्योंका त्यों हम कहानीमें बारीकीके साथ चित्रण कर देते हैं तो मेरे खयालमें इतने मात्रसे कहानी सफल नहीं हो जाती । वह सदा साहित्य नहीं बन जाती है । मुझे तो ऐसा लग रहा है कि यह जो पैसा बढ़ रहा है इससे हमारी बुद्धि पैनी और प्रखर हो गयी है । इससे जो कुछ भी हम देखते हैं, उसको खण्ड-खण्ड, अणु-अणु छितराकर देख लेना चाहते हैं, विश्लेषक बुद्धिसे । वह इतना विश्लेषण करती है, इतना विश्लेषण करती है कि संश्लिष्ट तत्त्व लगभग रह नहीं जाता । जिसे रस कहते हैं, प्रेरणा कहते हैं वह संश्लिष्ट प्रभाव है । विश्लेषक बुद्धि केवल बारीकीमें उतर सकती है । किन्तु रस और प्रभावकी अन्विति उसमें कम हो जायेगी । जीवनके साथ कहानीका क्या सम्बन्ध है इसपर जब विचार करता हूँ तो

मालूम होता है कि वैज्ञानिक सम्बन्ध नहीं हैं। कहानीका सम्बन्ध अवश्य जीवनके साथ रोमेण्टिक सम्बन्ध है और रोमेण्टिक सम्बन्धके माने ये कि हम प्रयत्नपूर्वक अन्तर रखते हैं। अन्तर नहीं रखते हैं तो आदर समाप्त हो जाता है, मूल्य समाप्त हो जाता है, मर्यादा समाप्त हो जाती है। अन्तर रखते हैं तो भावनाका अवकाश रहता है। अगर विज्ञान वह है जो सेण्टीमेण्टके लिए अवकाश नहीं छोड़ता है तो वह विज्ञान एटम बम बनायेगा और एटम बमको सिर्फ़ रखे रहनेसे सन्तुष्ट नहीं हो जायेगा, आगे भी चलेगा। कोई चीज़ है कि जिसके कारण विज्ञान अपनी मर्यादामें रहता है। जीवनके बारेमें मेरा दृष्टिकोण बना है कि आदर आवश्यक है—जीवनमात्रका, जैसा श्वाइत्ज़र कहते थे। आदर रख सकना जीवनके लिए आसान काम नहीं होता। क्योंकि हर चीज़में अपूर्णता दिखाई देती है और आदर तिरोहित हो जाता है। हर कोई अपनेको मानता है और किसीको नहीं मानता है। इस प्रकार समाज चलता नहीं, चल सकता नहीं, लेकिन मैं अपनेसे दूसरेको मानूँ और अपनेसे अधिक मानूँ यदि ऐसा हो सके तो मैं समझता हूँ कि हमारे जीवनमें-से विष समाप्त हो जायेगा और अमृत पैदा होगा। जीवन उस विज्ञानको स्पर्श दे जो ब्रह्माण्ड तक व्याप्त है और जिसे मैंने रोमांस कहा। विराट्के प्रति जो विस्मयका भाव है वह विज्ञान है। साहित्यकी यदि कोई उपलब्धि है या उपादेयता है तो वह आदमी और आदमीके बीचमें अहंताके सम्बन्धको अनिवार्य नहीं समझता बल्कि दूसरे प्रकारका सम्बन्ध मानता है—सहानुभूतिका। इससे आगे प्रेमका सम्बन्ध है। जब मैं किसीके निकट झुकता हूँ, उसके प्रति कृतार्थता अनुभव करता हूँ उसे प्रथम और अपनेको दोयम मानता हूँ तो वह प्रेम है। इसीका बढ़ा हुआ रूप भक्ति है। साहित्यमें जब भक्तिका तत्त्व रहता है तो वह चरमोत्कर्षपर रहता है। और जितना उसमें तिक्त, अहंताका भाव रहता है, वह अपने प्रयोजनसे च्युत होता है। कहानीके बारेमें मुझे लगता है कि साहित्यमें कोई विधा नहीं है जो कहानीके अभावमें टिक सके। कहानी ही थी, उसका रूप, बनावट, पहनावा कविताका था। वे हमारे पुराण हैं जिन्होंने हमारी संस्कृतिकी एकताको क़ायम रखा। उसके मध्यमें कहानी ज़रूर रही है। जो कविता हमें प्रभावित करती है उसके मध्यमें कहानीकी सिचुएशन ज़रूर रहती है। तो भी कुछ मुक्तक हैं जिनमें कथाका सन्दर्भ नहीं है। कथाकी इतनी प्रधानता केवल इसलिए है कि जीवनके सम्बन्धमें हमारी मान्यता स्थिर और बँधकर रह जाये, दिमाग़ उस वक़्त चला करता है। कहानी संस्कार देती है। उसका संशोधन करती है। चलता हुआ जो जीवन-व्यवहार है उसके द्वारा सत्यकी झाँकी कहानी देती है और वह टिक जाता है। जो शब्दमें, सूत्रमें, बँध गया वह तो स्टेटस-को का समर्थन करनेवाला होता है, जीवनको आगे नहीं बढ़ाता है। उपनिषद्‌को जब परमगुह्य बात कहनी हुई तो उसके पास कथाके अलावा कोई

वृन्दावनलाल वर्मा : 'छोटी-सी बात थोड़े-सेमें प्रभावके साथ कही जाये, मनोरंजन करे, प्रेरणा दे, स्फूर्ति दे···'

कहानीकी परिभाषा

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : 'कई रचनाएँ जीवनको बदल देती हैं, वे सम्पूर्ण चिन्तनको भी बदल सकती हैं।···'

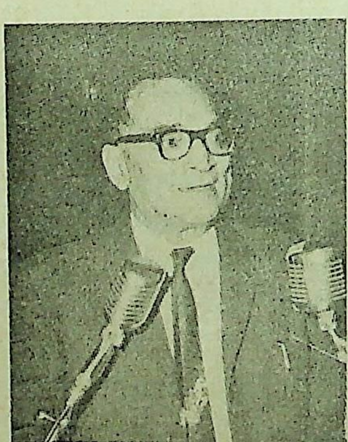

सहारा नहीं था। कथा-साहित्यका वही साफल्य है, कहानीसे वह बात यदि हमें मालूम हो जाये जिसे मालूम होना चाहिए, कि जितने भी वाद हैं जितनी मान्यताएँ हैं, उनका सापेक्ष्य मूल्य है, मनुष्य उसके मध्यमें है, जो निरपेक्ष मानवसे व्यवहारमें अलग जाकर, मानव-व्यवहारसे अलग जाकर, कोई मन्तव्य, कोई सूत्र अपने आपमें सत्य हो नहीं सकता है····। मानव व्यवहारकी कसौटीपर जो टिकता है वह सही है तो मैं मानता हूँ कि ऐसा हमारा मनोभाव बन जाये तो साहित्यमें, कथा-साहित्यमें, अपना काम बहुत कुछ पूरा किया। मैंने कहानियाँ लिखी हैं और जब एकाध कहानियाँ छप गयी थीं, तो मैं बहुत उत्सुक रहा कि मैं यह जानूँ कि कहानी है क्या चीज़? इधर-उधर जाता था कि कहानी क्या होती है, मुझे बताइए! एका-एक जब कुछ कहानियाँ छपीं तो किसीने कहा—छपा हुआ मिल गया पढ़नेको, जब मैं घूमता-फिरता था दिल्लीमें और आदत यह थी, कि जीवनसे परास्त हो चुका था, यहाँ कलकत्तेमें आया था, इस आशासे कि दस-पन्द्रह रुपयेकी कहीं नौकरी मिल जाये तो रह जाऊँगा। माँका सामना नहीं होता था···। यह मेरी हालत थी और मैं जानना चाहता था कि कहानी क्या होती है तो उसी समय पढ़नेको छपा हुआ मिल गया कि कहानीका जानकार जैनेन्द्र है। तबसे कहानीका लिखना मेरा चलता रहा है उसमें कोई खास दिक्कत नहीं हुई है लेकिन यह बात मेरे मनमें बैठ गयी है कि कहानीका जानना कुछ होता नहीं

है। जो कहानीके बारेमें इतना जानकार था और वह जगह-जगह जाकर पूछता था कि कहानी क्या होती है, बताओ ! और उसीके सम्बन्धमें यह छपा मिल जाता है कि उसके समान जानकार कोई नहीं है तो सिवा इसके क्या साबित होता है कि कहानी जाननेकी कोई चीज़ नहीं है। और उसकी भाषा जब जानकारीकी भाषा बतायी जाती है और लिखी जाती है तो मैं मानता हूँ कि कहानी-पर कुछ अवलेप आ जाता है। और जब कहानी जानकारीकी भाषासे मुक्त होकर जीनेकी भाषा अपनाकर चलती है तो सरल हो जाती है, सबके लिए सुलभ हो जाती है। पण्डितके लिए इसी कारण वह शायद गूढ़ हो जाती है। मैं मानता हूँ कि कहानीके सम्बन्ध-में परिचर्चाका जो बीड़ा आपने उठाया है वह साहसका काम जरूर है लेकिन मेरी प्रार्थना और भावना यह है कि कहानी-लेखन-की दृष्टिसे भी यह समारोह उपयोगी और लाभकारी हुआ तो मैं अपनेको, आप सबको और समारोहको सफल समझूँगा—जिसकी कि सम्भावना मुझे कम दिखती है।

● साहित्यका उद्देश्य है मनोरंजन…

भगवतीचरण वर्मा : कुछ थोड़ी-सी उल-झन पैदा हो गयी—इधर हालमें एक बौद्धिक विद्वत्तापूर्ण भाषण सुननेके बाद। मैं बौद्धिक रहा नहीं, यह शायद मेरी कमज़ोरी रही है और शायद यह मेरी सबसे बड़ी ताक़त भी रही है कि मैंने बौद्धिकताके आदान-प्रदानमें विश्वास नहीं किया। मैंने हमेशा भावनात्म-कताके आदान-प्रदानमें विश्वास किया। ऐसी बात नहीं है कि बुद्धिकी मुझमें कोई कमी है। जहाँतक बौद्धिकताका प्रश्न है उस समय अगर कोई आ जाये तो बातचीत कर सकता हूँ। अन्दरसे प्रेरणा केवल एक क्षेत्रसे थी, वह भावनात्मकताके आदान-प्रदानके क्षेत्रकी। बुद्धि मानवके विकासकी चीज़ है, भावना मानवका अस्तित्व है। और मैं अस्तित्वको नज़रअन्दाज नहीं कर सकता। जहाँतक विकासका प्रश्न है, वहाँतक समस्त मानव-समाज इस विकासमें लगा हुआ है। लेकिन इस विकासके क्रममें हम क़ायम रह सकेंगे ? और यह क़ायम रहनेका प्रश्न भावनाका प्रश्न है, बुद्धिका नहीं। विकास उसी समय हो सकता है जब हम क़ायम रहें। मैंने वह रास्ता अपनाया जो मेरे लिए सुलभ था। मैंने कविकी हैसियतसे अपना जीवन शुरू किया और मुझे याद है, मुझे कविताके क्षेत्रमें सफलता भी मिली। लेकिन बादमें अनायास ही किसी कारणसे मैं कहानी-उपन्यासके क्षेत्र-में आ गया। बहुत दिनों तक आलोचकोंने कहानीको साहित्यका उत्कृष्ट भाव माननेसे इनकार किया, आज भी सम्भवतः वे इनकार करते हैं। प्राचीन साहित्यमें कहानीको कला-के रूपमें नहीं माना गया। कहानीको दृष्टान्त-के रूपमें माना गया। कहानी धर्मशास्त्रका एक अंग रही है, कहानी स्वयंमें कहानीका क्षेत्र नहीं माना गया है। कादम्बरी अपनी कवित्वमय शैलीके कारण काव्यग्रन्थ कहलाता

है, कहानीके कारण काव्यग्रन्थ नहीं कहलाता। कहानीको माध्यम-भर माना गया। पाश्चात्य आलोचकोंने कहानीको अन्य क्षेत्रोंसे तोड़कर शुद्ध रूपमें भावनात्मक क्षेत्रसे बाँध दिया। यह सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दीकी बात है। लेकिन कहानीका कौन-सा ऐसा अंग है जो उसे साहित्य और कलाकी कोटिमें रखता है? पाठक केवल पढ़नेकी चीज़ पढ़ता है लेकिन यह बौद्धिक युग है और हर व्यक्ति युग-निर्माता बनना चाहे तो उसे रोका नहीं जा सकता। मैंने कभी भी साहित्यकारोंको युग-निर्माताके रूपमें देखा नहीं। युग-निर्माता किसी भी सिद्धान्तको दे सकता है। लेकिन वह सिद्धान्त मौलिक नहीं हो सकता। बुद्धिको साहित्यका क्षेत्र नहीं मानता, वह भावनात्मक अभिव्यक्ति है, साहित्यका उद्देश्य है मनो-रंजन—क्योंकि भावनात्मक अभिव्यक्ति केवल मनोरंजन-द्वारा होती है। भावना उस समय आती है जब हमारा मनोरंजन होता जाये। साहित्य सशब्द कला है, बाक़ी सब निःशब्द कला है। भावनात्मक अभिव्यक्तिका माध्यम गति है, शब्द नहीं। गतिका स्पष्ट रूप है लय। उपकरणके साथ-साथ आधार बदलते जाते हैं और कलाओंके नाम भी। कहानीमें भी एक गति है—चरित्रोंके क्रिया-कलापोंकी गति। कहानीके तत्त्वमें नाटकीयता होती है, वह ऐसी चीज़ है जो कहानीको गति दे सके, जो मनुष्यको पकड़ सके, मैं उसको महत्त्व देता हूँ। बौद्धिक और सामाजिक प्राणी होनेके नाते हम उन चीज़ोंको स्वीकार करते हैं जो हमें ऊपर उठायें, जो हमें कल्याण-की तरफ़ ले जायें। उत्कृष्ट कला वह है जिसमें भावनाका उदात्तीकरण हो। बौद्धिक मानवने कभी विकृत वस्तुको सामाजिक स्थान नहीं दिया। जहाँतक शिल्पकी बातें हैं, युगके साथ शिल्प बदलते रहते हैं। एक उपन्यास-कारके चार उपन्यास पढ़नेको दे दिये जायें तो उनसे मोनोटोनी आ जायेगी। जहाँतक नयी धाराओंका प्रश्न है वह तो आयेंगी ही, उनसे इनकार नहीं किया जा सकता है और उनका हमें स्वागत करना है—लेकिन उसके पीछे दूसरोंका सिर फोड़ना, दूसरोंसे मतभेद रखना यह मेरी समझमें नहीं आता। क्योंकि लिखनेकी सफलता आलोचकोंपर नहीं, पाठकों-पर निर्भर करती है। वही साहित्य जीवित रहेगा जिसमें मनुष्यको उदात्त बनानेकी भावना होगी। इससे अधिक कहनेसे फिर वही मोनोटोनी आ जायेगी।

● अपने समयके यथार्थको अपने भीतर समझ सकनेकी प्रक्रिया…

कमलेश्वर : यह विशेष अवसर है जब-कि सभी पीढ़ियोंके कथाकार यहाँ उपस्थित हैं। यह जो जीवनदृष्टिका सवाल उठता है, या यह जो क्षणकी अभिव्यक्तिका सवाल उठता है, या सामाजिकता या वैयक्तिकताका सवाल उठता है, बौद्धिकता और भावनात्म-कताका सवाल उठता है, इन प्रश्नोंके ऊपर नया कथाकार क्या सोचता है और किस तरह सोचता है—यह बात महत्त्वपूर्ण है। एक बात-के लिए क्षमा करेंगे कि यदि किसी व्यक्तिका

नाम आये तो वह किसीके प्रति असम्मानके भावसे नहीं, वह केवल अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिए है। एक पिछली दृष्टि थी—पुरानी नहीं, पुरानी कहनेमें झगड़ा बढ़ता है—कि जीवनदृष्टि होती नहीं, प्राप्त की जाती है, लेखनके माध्यमसे उपलब्ध होती है। दो दृष्टियाँ हैं, एक यह कि हत्यारे मुजरिमकी पैरवी करके, सारे तर्क देकर यह सिद्ध किया जाये कि उसने हत्या नहीं की और दूसरी यह कि मुजरिम हत्यारा है और यह कहा जाये कि मैं उसकी पैरवी नहीं करूँगा। जीवनदृष्टि-का भेद यहाँपर है, वह अपनेमें कोई सम्प्राप्ति नहीं है। यह निरन्तर विकसित होती हुई प्रक्रिया है कि आप एक सही बातके लिए पैरवी करते हुए अपनेको पाते हैं—साहसके साथ उस बातके प्रति अपनेको समर्पित पाते हैं। यही बात साहित्यकी अभिव्यक्तियोंमें माध्यम पाती है। यह नहीं है कि वह लेखनके अन्तमें प्राप्त हो और आदमी ज्ञानदान करने लगे। यह ज्ञानदानकी प्रक्रिया नहीं है, यह ज्ञानको और सत्यको और अपने समयके यथार्थ-को अपने भीतर समझ सकनेकी, बराबर उस बदलती हुई और उसको छाँटती हुई, उसको सुधारती और कतरती हुई एक प्रक्रिया है, जिसमें-से कि कहीं-न-कहीं आप अधिकतम रूप-से सत्यके, यथार्थके निकट पहुँचनेकी कोशिश करते हैं। अगर यह दृष्टि नहीं है तो बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी जा सकती होंगी, सार्थक कहानियाँ नहीं, या उदात्त—जैसा कि भगवती बाबूने कहा। एक क्षण है जिसमें-से परत-दर-परत चीज़ें खुलती चली जाती हैं। ऐसा लगता है कि आपसमें टकराते हुए दो संघर्ष-शील मतवाद सामने हैं। एक उदाहरण है: एक मज़दूर है जो जेल चला जाता है, उसकी माँको उसके साथी कुछ गेहूँ लाकर देते हैं। माँ पूछती है—यह गेहूँ अमरीकाका है या रूसका? एक भौंडी क़िस्मकी राजनीतिका यह उदाहरण है। दूसरा उदाहरण एक प्रेमी-प्रेमिकाका है। पिता उनके प्रेमको अस्वीकार करता है। उनको एक कमरेमें बन्द कर दिया जाता है। फिर वे कमरेसे निकलकर कहते हैं कि हम दोनों भाई-बहन हैं। एक यह उदाहरण है जो सत्यसे कितना दूर है, जो संश्लिष्ट सच्चाइयोंसे दूर है। कई तसवीरें सारे कथा-साहित्यको देखते सामने आती हैं। एक लड़की, जिसके केश हुआ करते थे, बाल नहीं, ललाटपर एक बिन्दी होती थी या नहीं भी होती थी, बड़ी-बड़ी आँखें होती थीं और वे डबडबायी रहती थीं....मैं इसे इक्ज़ागरेट कर रहा हूँ, इसमें कोई शक़ नहीं। सारे सम्बन्धोंको देखते हुए पिता हो, पुत्र हो, ननद हो या और कोई भी—ऐसा लगता था जैसे हमारा लेखक वैयक्तिक और सामाजिक दोनों तरहकी सच्चाइयोंसे कहीं टकरा रहा है। यह इसलिए मुमकिन हो सका क्योंकि हमलोगोंके सामने जो रास्ता था वह शायद साहित्यसे जीवनकी ओर था। नयी पीढ़ीने यह रास्ता बदलनेकी कोशिश की और यह रास्ता जीवनसे साहित्यकी ओर शुरू हुआ। यह एक काशंस डिपार्चर था कि जीवन-में जो कुछ दिखाई पड़ता है उसे बग़ैर किसी लाग-लपेटके, बग़ैर फुलकारी किये हुए, बग़ैर प्रतीक और बिम्बोंके, डायरेक्टली जितना कहा

जा सके उसे कहनेकी कोशिश की जाये और अपनी सच्चाईको कहा जाये। उसे शिल्पकी वर्जिश न करायी जाये। यही क्षण हमारी कहानीका कटा हुआ क्षण था, एक सीमित क्षण। वह अपनेमें एक सम्पूर्ण क्षण था। उस क्षणकी कार्य और कारणकी कोई परम्परा हमारे सामने नहीं थी। बादके साहित्यमें किसी भी बातको अन्तिम रूपसे न कह सकनेका साहस सबसे बड़ा साहस है। यदि हम अन्तिम निर्णय नहीं ले पाते तो इसका मतलब यह नहीं है कि हम आरोपित दर्शनका बोझ लादकर एक बात ज़बरदस्ती कहें। पहले वैयक्तिकता इतनी क्रूर होती चली गयी थी कि समष्टिकी सारी संवेदनाको एक तरहसे नकारना शुरू कर दिया था। इस वैयक्तिकताको सामाजिक सन्दर्भसे जोड़ देनेका काम शुरू हुआ। जहाँ व्यक्ति-सत्यको सामाजिक पूर्णताने दबोच लिया था और उसको बोलने नहीं देता था वहाँ ऐसा हुआ कि उस व्यक्तिको उभरनेका एक अवसर प्रदान किया गया। वर्माजीने जिसे भावनात्मक आदान-प्रदानकी बात कही है उसे नये लोगोंने संवेदनात्मक संश्लेषण कहा। प्रेमचन्द या शायद भारतेन्दु बाबूकी रचनामें नयी कहानीके बदलते हुए स्वरूपकी एक हलकी-सी झलक नज़र आती है। इसलिए उस परम्परामें जो सार्थक जीवनदृष्टिसे सम्पन्न सम्पृक्त क्षणकी कथा है उसका एक स्वरूप प्रेमचन्द, यशपालमें है। भाषा और शैलीके क्षेत्रमें एक नया प्रयाण हुआ। एक झूठे आदमीकी भाषा अपना अर्थ खो देती है। इसी जिदसे भाषा बदली है। हमारे अग्रज बन्धुओंमें भी ज़िद है, और हममें भी है, और होगी। सन् ४७ के बाद कहानी बदली है। वह एक बँधी हुई विधा नहीं है। वह सामाजिक सन्दर्भसे जुड़े हुए यथार्थको कहनेकी कोशिश करती रही। वह बनावट नहीं है—ज्योंका त्यों प्रस्तुत करनेकी कोशिश है। इसीलिए विभिन्न कथांचलोंमें जो कहानी गयी, उसमें जितनी विविधता आयी है, यह विविधता नये कथा-साहित्यकी उपलब्धि है। कहानी एक फ़ार्म नहीं है, उसमें बदली हुई सच्चाइयाँ उभरी हैं। इनमें लेखकोंकी अपनी वैयक्तिक कमज़ोरी, मजबूरी या सीमाएँ भी हैं। वह उम्रमें बढ़ी हुई पीढ़ियोंका संघर्ष नहीं है, यह सीधे-सीधे वैचारिक स्तरपर दो तरहकी सोचनेवाली पीढ़ियोंमें अपने-आपको अच्छे और बहुत अच्छे वातावरणमें स्पष्ट कर सकनेका प्रयत्न है। यहाँके निष्कर्ष हमें सचेत कर सकेंगे, इसलिए वैचारिक आदान-प्रदान बहुत अच्छे होते हैं। यही कथा-समारोहकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

२ समकालीन बोधमें-से जन्मी जीवनदृष्टि…?

वही दिन। रात आठ बजे। विषय : समकालीन कथा-साहित्यमें बदलती जीवन-दृष्टि। अध्यक्ष : अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, हरिशंकर परसाई। वक्ता : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल। डॉ० शिवप्रसाद सिंह। गंगाप्रसाद विमल। श्री कान्त वर्मा—

● नयी कहानीने, जो जीवनसे टूटा था, उसे जीवनसे जोड़ दिया...

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : जीवनदृष्टि-के सम्बन्धमें दो विचार आपके सामने आये हैं : एक श्री जैनेन्द्रजीका विचार, पुरानी पीढ़ीका विचार और दूसरा कमलेश्वरजीका विचार, जिसे तथाकथित नयी पीढ़ीका विचार कहेंगे। जीवनदृष्टि स्वाभाविक है, जीवनसे प्राप्त होती है और यह भी सच है कि जीवन-दृष्टिको लेकर कहानी लिखी जाती है या नहीं इसपर दो बहुत बड़े दल बने हैं। अगर इति-हासके परिप्रेक्ष्यमें देखें तो बात बहुत स्पष्ट है। जैनेन्द्रका जो काल था वह किन्हीं आदर्शों-का था जिन्हें हम आरोपित आदर्श कह सकते हैं, उसको लेकर जीवनदृष्टि चली थी और इसी नाते उसमें अस्पष्टता थी। दूसरे कालमें भी किन्हीं सिद्धान्तोंको लेकर ही कहानियाँ लिखनी शुरू की गयीं। इसमें जैनेन्द्रके काल-को अन्तर्मनका काल कह सकते हैं, भावनाके साहित्यका काल कह सकते हैं। वह भी ठीक जीवनसे नहीं आया था। ठीक दूसरे सिरेपर प्रगतिवादमें बहुत बड़ी दुर्घटना हुई थी कि जीवनसे पूराका पूरा साहित्य कट गया था। नयी कहानीकी जो सबसे बड़ी भूमिका है, सबसे बड़ा जो कार्य है वह कार्य यही है कि जीवनका जो सूत्र प्रेमचन्दने उठाया था पहले, जो जीवनसे टूटा था, उसे जीवनसे जोड़ दिया—यही सबसे बड़ा कार्य नयी कहानियोंने किया है। नयी कहानी : एक है १९५० तककी नयी कहानी, उसके बाद १९५८ तककी नयी कहानी या नयी कहानी जहाँ अपने स्पर्शसे हट गयी है उसकी चर्चा कर देनी आवश्यक है। नयी कहानी जीवनको जीवनमें-से और यथार्थमें-से तलाशनेकी प्रवृत्ति थी, यह स्वर विशेषकर आंचलिक कहानियोंमें-से आया था। मनुष्यके जीवनको इसने तलाशा था, उसी परि-वेशमें, बग़ैर किसी आदर्शके। इसी प्रवृत्तिने नयी कहानीके चित्र उपस्थित किये हैं जैसे 'हंसा जाय अकेला', 'दोपहरका भोजन', 'कोसी-का घटवार' और अनेक ऐसी कहानियोंके नाम दिये जा सकते हैं। तब ईमानदारी और यथार्थ-का चित्र सामने आया। इस यथार्थकी अभि-व्यक्ति हमने कैसे की? स्वतन्त्रताके बाद '५८ या '५० में यथार्थ पकड़ा गया था जैसे इन कहानीकारों-द्वारा। जीवनका जो भोग्य है उसके बीचसे सारी चीज़ पकड़ी गयी थी। लेकिन उसके बाद जीवनका जो यथार्थ था वह कहानीकारोंकी पकड़से बाहर हो गया। यहीं-से नये कथाकारोंकी एक बहुत बड़ी पीढ़ी या प्रतिभाने अकहानी या किसी सम्बोधनको लेकर उन्हीं यथार्थ-खण्डोंको पकड़ना शुरू किया—इस बातको समझना चाहिए। उल्लेखनीय कहानी-कारोंने जिस यथार्थको लिखा वह कैसे हाथसे छूट गया और क्यों वे विवश हो गये, मनः-स्थितिकी कहानी लिखनेके लिए, क्यों विवश हो गये कुण्ठा और पश्चिमी ओढ़े गये सिद्धान्त-को लेकर कहानी लिखनेके लिए—जिसका शिकार हुआ था प्रगतिवाद और छायावादका कहानीकार? समाजशास्त्रके अनुसार सामनेकी शक्तियोंको जब हम समझते हैं तो यथार्थ

विमल मित्र : 'नया आदमी सोचता है कि रॉशनकी कमीमें ये बूढ़े लोग जिन्दा क्यों हैं ?'

अपनी बात

अमृतलाल नागर : 'मैं बीचका हूँ, न पुराना, न नया। लेकिन बीचकी स्थिति रहती नहीं, आदमी आगे बढ़ जाता है।'

स्पष्ट होता है और जब उन्हें नहीं समझते तो उन शक्तियोंके प्रति भय उत्पन्न होता है और जब भय उत्पन्न होता है तो मनुष्य अस्पष्टताकी ओर लौटता है—प्रयोगकी ओर, ओढ़े गये सिद्धान्तकी ओर। १९५० और ५८ के बाद जो नयी सामाजिकता सामने आयी वह थी-कॉंग्रेस-द्वारा दिया गया समाजवादका नारा, दूसरी ओर एटानामी····वे सारे सिद्धान्त जिनके ऊपर बीसवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध टिका हुआ था, इन सारे विश्वासोंका ध्वस्त हो जाना····। हर सत्य परिवर्तनशील है, यह सिद्धान्त नये कहानीकारोंको क्लेशकर लगा और यथार्थकी पकड़ यहींसे छूटी है। यहींसे वह मन:स्थिति और सेल्फ़ जस्टीफ़िकेशनकी बात कहने लगा। यथार्थकी पकड़वाले कथाकार नकारे गये। यह बदलती हुई स्थिति बड़ी संश्लिष्ट थी और है। इस बदलती हुई स्थितिको ग्रहण करना कुछ सरल बात नहीं है। डॉ० अवस्थीके अनुसार जब सारेके सारे विश्वास असिद्ध हो जाते हैं तो फिर एक ही विश्वास शेष रह जाता है—आत्मानुभूतिका। यथार्थको पकड़नेके लिए यही आत्मानुभूति सबसे बड़ा सहारा रह जाती है। यह आत्मानुभूति क्या है? सिर्फ़ अपनी भोगी हुई अनुभूति या दूसरेके भोगे हुए सत्यसे लगाव। यह भी बदलती हुई जीवनदृष्टिको समझनेके लिए आवश्यक है। नयी कहानीके एक अग्र समर्थक पिछले दिनों तक यह कहा करते थे कि नयी कहानीकी परम्परा बिलकुल नयी है, उसका कोई सम्बन्ध ही परम्परासे नहीं है। आज दूसरा व्यक्ति कहता है कि यह परम्परा तो भारतेन्दु

से जुड़ी हुई है, लगता है कुछ दिनों बाद यह परम्परा रीतिकालसे जुड़ जायेगी । यह बदलती हुई जीवनदृष्टिका बहुत बड़ा उदाहरण है कि जब यथार्थको व्यक्ति नहीं पकड़ पाता तो अतीतमें जाता है। ऐसा क्यों हुआ है इसपर विचार करें ।

● प्रभाव उतनी ही मात्रामें लिये जा सकते हैं जो क्रियेशनका हिस्सा बन सकें···

डॉ० शिवप्रसाद सिंह : पहली गोष्ठीके वक्ताओंमें एक ऐतिहासिक क्रम था कि कमलेश्वरको अपने पूर्वके वक्ताओंपर भी विचार करनेका अवसर मिला और वैसे भी पुराने अपने-आप हमारे लिए विवेच्य हो जाते हैं लेकिन आवश्यक तटस्थता मिले तो बहस रुकेगी नहीं । यदि पहले जन्मे लोगोंको ही ले लें, तो विचारमें एक दोष आयेगा । प्रश्न यह नहीं है कि पहले क्या था क्योंकि सब साँचेमें ढले हुए हैं । आदर्शवाद हो या यथार्थ-वाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद—भारतीय जीवनमें ऐसा बहुत कुछ है और था जो यदि ध्वस्त नहीं होता है तो कहीं भी कोई रास्ता हमें नहीं मिलेगा । परिवर्तन आवश्यक है । जो परिवर्तनके विरुद्ध बात करते हैं वे एक प्रकारका अवरोध खड़ा करते हैं । लेकिन यथार्थ भी साँचा बन गया था । वह भी सच्चा बोध नहीं देता था । अब ऐसे यथार्थकी सम्पृक्ति होनी चाहिए जो हमें रास्ता दे सके । अब ऐसा नज़र नहीं आता कि कहीं कोई सहज रास्ता है जब कि हमारी सारी सम-कालीन चेतना ऐसी छटपटाहटमें-से गुजर रही है कि कोई रास्ता मिले । पाश्चात्य संस्कृतिसे हमने बहुत कुछ सीखा है, यह अगर न आयी होती तो आज भी हम मध्ययुगीन परम्परामें ही पड़े होते । अँगरेज़ोंकी जीवित संस्कृतिने हमें दिया है । ऐसा कोई भी तत्कालीन बौद्धिक नहीं है जिसने पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानकी तारीफ़ न की हो । कुछ समय पुनर्जागरणका काल रहा, फिर स्वतन्त्रताके बाद सारे जनसमुदायकी आकांक्षाओंका बाधित होना आया, इससे एक हीनताका भाव आया है । स्वतन्त्रताके बाद असेम्बलींग पीरियड आया । यह जुड़ाईका युग कोई नयी प्रतिभा या उपलब्धि नहीं दे सकता । परिणामस्वरूप हम पाश्चात्य संस्कृतिके प्रति आश्रित होते गये । कोई भी विश्व चेतनासे कटकर नहीं रह सकता । लेकिन प्रभाव उतनी ही मात्रामें लिये जा सकते हैं जो क्रियेशनका हिस्सा बन सकें । जैसे रेलगाड़ीका विरोध कूपमण्डूकता होती है, लेकिन अब रेलगाड़ी हमारे सृजनका हिस्सा है । अजीब बात है कि हर विकास-योजनामें विदेशी बातें आती हैं लेकिन साहित्यमें उसपर प्रतिबन्ध लगानेकी बात चलती है । वह आये लेकिन हमारे सृजनका अंग बनकर । उससे वह भारतीय हो जाये । दर्द भुलवानेके लिए जो चीज़ खायी जाती है वह सृजनका अंग नहीं बन सकती है। बोटनिक परम्परा या तंग मोहरीके पायजामे या खास आकार-प्रकारकी चीज़ें—यह कहीं भी भार-तीय चेतनाके सृजनका हिस्सा नहीं बनती हैं। हम उन्हीं चीज़ोंको ले सकते हैं जो हमारी

चेतनाको शक्ति देती हैं। इसी कारण आधुनिक साहित्यमें सारी स्थिति दिशाहीन-सी है। साहित्यकार एक सचेतन प्राणी है वह अपना उत्तरदायित्व स्वयं निबाहे। आज जो बदली हुई स्थिति दिखाई पड़ती है वह थकन या स्टेगनेशन या स्थिरताके आयाममें आ गयी है। उसे अगर सही दिशा न दी गयी तो कुछ अन्देशा है कि उससे गतिरोध या स्थैर्य आता जा रहा है।

● आघातोंके विरुद्ध निर्णय लेनेकी क्षमता ही जीवनदृष्टि है…

गंगाप्रसाद विमल : आरम्भमें जैनेन्द्रजी बोल गये हैं और वे सदैव रहस्यवाद बोलते हैं और यह हमारा दुर्भाग्य है कि इस बोलीको हम समझते नहीं हैं। जिस प्रकार रहस्यवाद पुरातनवाद है वैसे ही जैनेन्द्रजीकी कहानियाँ निबन्धात्मक रचनाएँ हैं। समकालीन वे हैं जो विशेष काल-खण्डमें जीवित हैं। लेकिन समकालीन जीवनदृष्टि आधुनिकताको संवहित करती है। जैनेन्द्रजीने जो कहा वह हम समझ नहीं पाये। समकालीन जीवनदृष्टि वह है जो न समझी जानेवाली चीज़ोंको अस्वीकार करती है क्योंकि न समझी जानेवाली चीज़ोंको अस्वीकार करना हमारा धर्म हो जाता है। पीढ़ियोंका अन्तर महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि कोई वृद्ध महाशय नये जीवनको समझ लेते हैं तो वे समकालीन हुए। जो नये बोधको स्वीकार नहीं करता वह समकालीन नहीं है। रचनात्मक समकालीन दृष्टि अलग है। जो अभिशाप हमें मिला है उसे स्वीकार करनेके लिए हम अभिशापित हैं। जब हम यथार्थके साथ उसे देखते हैं तो आधुनिक जीवनदृष्टि शुरू हो जाती है। जीवनके साहचर्य-विधानमें मिलनेवाले शॉक्स-धक्कोंमें-से जब आप स्थिर होकर निर्णय ले पाते हैं तब एक दृष्टिबोध आपमें आ जाता है। जहाँ दृष्टि जड़ हो जाती है वहीं रहस्यवादकी भाषाको स्वीकारने लगते हैं। शॉक्स या आघातोंके विरुद्ध निर्णय लेनेकी क्षमता ही जीवनदृष्टि है। वस्त्रों या फ़ैशनसे अन्तर नहीं आता, मानस-जगत् ही निर्णायक होता है। भगवती बाबूने कहा, साहित्यकार चरित्र-निर्माण करता है लेकिन किसी पाठकके चरित्र-निर्माण करनेसे बड़ा दूसरा कोई झूठ नहीं हो सकता। पिछली कहानियोंमें मोटी-मोटी बातें होती थीं जिनका विश्लेषण कोई भी कर सकता है। बीचकी पीढ़ीके बारेमें कोई भ्रम नहीं है जब कि उनमें भी गलदश्रु भावुकतावाले लेखक हैं। मलबेका मालिक, दिल्लीमें एक मौत, मेरा दुश्मन, लन्दनकी एक रातमें एक सामाजिक स्थिति है या दिये गये जीवनको भोगनेकी नीति उनमें है। इसमें एक बोधकी बात है। पचासके बादका परिवर्तन इनमें देख सकते हैं। साठके बादकी चार कहानियाँ, शव यात्रा, नौ साल छोटी पत्नी, प्रतिशोध तथा पिता या फ्रेंसके इधर-उधर। इन कहानियोंमें घिसे-पिटे स्वरूपको स्वीकार नहीं किया गया है। जीवनकी नयी थीम इनमें है। भोगको भोगनेवाला व्यक्ति उसकी यन्त्रणाकी बात कह सकता है। क्या सम्बन्ध,

मस्तिष्ककी क्रियाएँ या उसका बोध महत्त्वपूर्ण हैं ? शिवप्रसादजी और डॉ० लालने जिस डरावनी भाषामें बात की है उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। सोचना यह है कि क्या सम्बन्ध बदलते हैं या व्यक्ति बदलता है या जीवनदृष्टिका रूप बदलता है ? जीवनका भोग कटु है। जो मनुष्य भोगता है वह पीड़ित है और पीड़ित मनुष्य कहानियोंके माध्यमसे अपनी बात कहता है। जीवनदृष्टिका बदलाव है तो वह स्वयं स्पष्ट हो जाता है। यह समझना जरूरी है कि कौन-सा रूप बदलता है और उन रूपोंकी क्या दिशाएँ हैं ?

● हर नया दिन नयी पीढ़ीको मिलता है…

अमृतलाल नागर : जीवनदृष्टि हर पीढ़ीकी आधुनिक होती है। वह दो तरीक़ोंसे प्राप्त की जाती हैं : एक उपदेशोंसे, मजबूरीसे, वातावरणसे और दूसरी वह जो स्वयं अर्जित की जाती है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने भी गुप्तजीको लिखा था कि 'मैं नयी कविता चाहता हूँ।' मेरे पास सन् १९०१ की एक फ़ाइल है, जिसकी एक कहानी न नाटक है, न कहानी है, न कुछ। उसमें नयापन झलका है। उसमें हाय होटल, हाय बोटल है। पुराना था तो होटल-बोटलसे लड़ रहा था, अब नया होटलमें आ गया है। यह नयेपनकी मिसाल है। मैं पचासका हूँ—न नया, न पुराना, बीचकी स्थिति। लेकिन बीचकी स्थिति रहती नहीं क्योंकि आदमी आगे बढ़ जाता है। मैं मानता हूँ, साहित्य समाजका प्रतिबिम्ब है। जब जीवनसे कुछ पाते हैं तभी उसे कुछ दे सकते हैं। पहलेका नयापन तो यह था कि विमल बी० ए० पास, बाबू श्यामसुन्दरदास। यही क्यों, लोकगीतोंमें औरतें गाती थीं—'सइयाँ हमारे मिडिल पास, अँगरेजी बिगुल बजायें।' पुराने ज़मानेमें श्रीधर पाठक और बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी नये ज़मानेकी बात करते थे। हम कई संस्कृतियोंमें-से गुज़रे हैं—आदि संस्कृति, मुग़ल संस्कृति, बाबू संस्कृति। पहले जातीय समाचार-पत्र निकाले गये। १८८५ में देवनागरीमें समाचार-पत्र निकला था। वे हिन्दीमें समाचार-पत्र निकालते थे और खिड़कियाँ खोलकर अँगरेज़ी बोलते थे। सबसे अधिक अँगरेज़ी उत्तर प्रदेश और तमिलनाडमें बोली जाती है। वह चलन है। विद्रोह हर पीढ़ीने किया है। सरस्वतीमें महावीरप्रसाद द्विवेदीने नया लिखवाया है, किशोरीलाल गोस्वामीको टेम्पेस्ट सुनवायी गयी थी कि वे इन्दुमति लिखें। लाला पार्वतीनन्दनने कई अनुवाद किये हैं। सन् १९०८ में बंग महिलाकी जो कहानी छपी थी वह सबसे अधिक आधुनिक थी। कलाकी अपनी दृष्टि होती है जो तर्कसे परे होती है और सूझ तथा अनुभूतिसे जन्म लेती है। गुलेरीजीकी कहानीने एक कायापलट कर दिया था। आश्चर्य होता है कि वह इतनी नयी थी। नयी उपलब्धि सादर स्वीकार करते यह नहीं कह सकता कि पुरानी पीढ़ीने रास्ता नहीं दिया। क़ानूनी खानापूर्ति न करें तो अच्छा है। हमारे पुरखोंने बड़ी-बड़ी बातें कही हैं। पन्तजीने रीतिकाल-

की बड़ी आलोचना की थी। हरिऔधजीकी भी बड़ी समीक्षा हुई है। किस पीढ़ीने विद्रोह और विरोध नहीं किया? प्रश्न आजकी जीवनदृष्टिका है कि पहला इसी रूपमें उसे कैसे ग्रहण करेगा। पहले दावतोंमें जाते थे तो घरसे खिलाकर भेजते थे और वहाँ जाकर भरी थाल छोड़ आते थे। उन लोगोंकी आँखें खुली हैं जिन लोगोंने लालटेनके प्रकाशमें देखा है, अब उनके सामनेके बल्बके प्रकाशमें देखते हैं। लड़ाई न करके जीवनदृष्टिको आधुनिक कालके परिवेशमें देखें और वकालत न करें। नये शब्दसे हर नयी पीढ़ीको मोह होता है और वह आपको मुबारक हो। हर नया दिन नयी पीढ़ीको मिलता है और वह पुरानेको नसीब नहीं होता है। अन्तर्विरोधोंसे कालको दृष्टि नहीं पायेंगे, जिसे पाना ज़रूरी है।

• आत्मानुभूति + पढ़ना-लिखना = जीवनदृष्टि

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : जीवनदृष्टि केवल साहित्यिक विषय ही नहीं है। इसमें राजनीति, सोशालाजी सब हैं, इसका मनुष्य मात्रसे सम्बन्ध है। मैं पूछना चाहता हूँ कि किसी भी साहित्यकारके बारेमें कोई भी यह कह सकता है कि उसकी दृष्टि बदली नहीं है। साहित्यकारके मनका, समय, परिस्थिति, पढ़ने-लिखने, आत्मानुभूति सभीका प्रभाव पड़ता है। कोई भी पूरी दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकता। साहित्यकारने इस बातको कण्ट्रोडिक्ट किया है। जीवनदृष्टिमें आत्मानुभूति और स्वयंका पढ़ना-लिखना दोनोंका योग होता है। किसीकी कोई एक जीवनदृष्टि नहीं हो सकती। भारतीय दर्शनको लें तो पहले वेदको मानकर चला जाता था। वेद परम प्रामाणिक थे। इसका प्रभाव यह पड़ा कि जीवन बँधा रहा लेकिन जीवनके लिए किसी आधारकी आवश्यकता होती है। जो दृष्टि मिलती है वह आधारसे प्रभावित होती है। सत्य और प्रभाव आंशिक हो जाता है। संस्कार, बचपनके प्रभाव आदि सभी इसमें होते हैं। पहले वक्ताओंने दृष्टिकी बातको ओवरइनसिस्ट किया है। कई रचनाएँ जीवनको बदल देती हैं, सम्पूर्ण चिन्तनको बदल सकती हैं। साहित्यकार विचारोंको भी बदल सकता है और दिशा भी दे सकता है।

• भीतरसे अवसरवाद बोलता है और हम समझते हैं—आत्मा बोल रही है···

हरिशंकर परसाई : मैं चाहता था कुछ और लोग बोलें क्योंकि मामला ठण्डा चल रहा था। नागरजीने जिस तरहका सबको मरहम लगाया उससे तो स्नेह-वात्सल्य आदि भाव पैदा होने लगे हैं। डॉ० लालने ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत की लेकिन एक भूल की, क्योंकि प्रगतिवादने सारे जीवन और दृष्टिको बदलनेकी कोशिश की है। आन्दोलनों में कई बातें हुईं लेकिन ऐतिहासिक तथ्योंको भुलाया नहीं जा सकता। पीढ़ियोंकी बात महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि बीस-इक्कीस सालका कथाकार भी रूमानी कहानियाँ लिखता है—प्रेमिकाको टी० बी० करवा देता है या आत्महत्या करवा देता है। पापुलर उपन्यासकार

शंकर, जिनका उपन्यास चौरंगी है—अजीब बात है उसमें जितनी अच्छी स्त्रियाँ हैं सब मर जाती हैं। मेरा खयाल है, पचास-साठ साल पहले अच्छी स्त्रियाँ मरती थीं, अब अच्छी स्त्रियाँ नहीं मरतीं। अच्छी स्त्रियाँ बुरी स्त्रियोंको मार भी डालती हैं। गंगाप्रसाद विमलने जीवनको भोगनेकी बात कही। मैं नहीं मानता कि भावनाके आदान-प्रदानवाली ऐसी बातें भी होती हैं। हम इसे नहीं मानते। गान्धीवादकी हृदय-परिवर्तनवाली बातपर भी यह डिस्कवरी हो गयी कि हृदय ही नहीं होते तो बदलेंगे कैसे? इसके बाद रसात्मक दीदीवाद वाली बात आयी, वह भी ग़लत है। विमलने जीवनको जैसेका तैसा भोगनेकी जो बात कही उसमें भी बहुत धोखा है। इससे पहले आत्मानुभूतिकी बात कही गयी थी, वह भी बड़ी फ्रॉड है। बहुत बार ऐसा होता है कि भीतरसे अवसरवाद बोलता है और हम समझते हैं कि आत्मा बोल रही है। कई बार दर्द बोलता है और हमें मालूम होता है कि आत्मा ही बोल रही है। आत्मा कोई मशीन नहीं है वह हमारे घात-प्रतिघातसे सम्बद्ध है। भोगनेका मतलब सर्फरिंग नहीं है, सारे सुख-दुःखको बरदाश्त करना है और अकेले ही नहीं, सबके साथ मिलकर बरदाश्त करना है। कुछ लोग कहते हैं कि नयी पीढ़ी बीटनिक होती जा रही है लेकिन मैं कहता हूँ कि वह बीटनिक नहीं है क्योंकि बीटनिक आइजनहोवरपर, क्रेस्ट्रोपर, विएतनामपर कविता लिखते हैं और उन्हें दिखाते हैं और गोली खाते हैं। उन्हें कुण्ठा और अनास्थाका प्रतीक मान लिया गया है। ज़रूरत है विद्रोह करनेकी ताक़तकी। पाश्चात्य नक़लसे कोई डर नहीं है। नयी पीढ़ीको जो कहते हैं कि इसमें कुण्ठा और अनास्था है, वह परिस्थितिके कारण है। उसके पास पैसा नहीं है, उसकी बहन सूख रही है, कॉलेजमें प्रोफ़ेसर उसे दुत्कार देते हैं, पिता एक्सपोज़्ड हैं, नेताका राज़ उसे मालूम है, टीचर्सको वह जानता है, अब बम्बई-कलकत्ताका वह लड़का काँच न तोड़ दे और पत्थर न फेंके तो मैं कहता हूँ वह मर जायेगा। समाजमें स्थिति यह है कि उसे असर्ट करना पड़ता है। नक़लवाला आरोप दूर हो जाता है जब हम सारे समाजका एनलॅसिस करते हैं।

● आजके लेखकके पास कोई जीवनदृष्टि नहीं है—और वह इसे हिम्मतके साथ स्वीकारता है...

श्रीकान्त वर्मा : कोई भी बहस न पीढ़ी तक सीमित रह सकी है न देश-विदेश तक क्योंकि दुनिया बहुत बड़ी हो गयी है। आजके लेखककी विशेषता है कि वह किसी एक दुनियामें नहीं रहता, पचास हज़ार दुनियामें रहता है और किसी एक कालमें नहीं रहता, हर समयमें रहता है। वह जो कुछ लिख रहा है उसके हर शब्दमें पहलेका शब्द मिला हुआ है। जो कुछ आज वह लिख रहा है आनेवाले उसे ग्रहण करेंगे। इसलिए परम्पराके सवाल

बेमानी हैं। मैं नहीं मानता कि आजके लेखक-ने कोई ऐसी जीवनदृष्टि प्राप्त कर ली है कि उसका साहित्य विशिष्ट हो गया है। आजका लेखन यदि विशिष्ट है तो उसी अर्थमें ही कि आजके लेखकके पास कोई जीवनदृष्टि नहीं है और लेखक उसे हिम्मतके साथ स्वीकारता है। लेखक पैग़म्बर नहीं है और कभी भी लेखक पैग़म्बर नहीं रहा। जो लोग पैग़म्बर या मसीहा होनेका दावा करते हैं और जीवन-दृष्टि पाकर लिखते हैं वे भी जीवन जीनेकी और साहित्य-रचनाकी प्रक्रियामें-से दृष्टि पानेकी कोशिश करते हैं। हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमारी जीवनदृष्टि अलग है, और हमी संघर्ष कर रहे हैं? बालमीकिने क्या संघर्ष नहीं किया? क्रौंचवध उस अन्तर्संघर्षका प्रतीक है जिससे कविता पैदा हुई। इस अन्त-संघर्षके बग़ैर रामायणकी रचना नहीं होती। जिसमें अन्तर्संघर्ष नहीं है, उसे हज़ारों किताबों-से जीवनदृष्टि नहीं मिल सकती क्योंकि वह बनी हुई चीज़ नहीं है। हर व्यक्ति और लेखक अपनी दृष्टि खुद प्राप्त करता है। बाहरी संघर्ष भी महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन जब तक वे अन्तर्संघर्षसे जुड़े हुए नहीं होते जब तक वे कुछ देते नहीं। दुनियामें लाखों लोग लिख रहे हैं लेकिन सभी लेखक नहीं हैं। लेखक केवल थोड़े-से लोग हैं, बाक़ी लिखनेवाले हैं। लिखने-वालोंके लिए यह सवाल फ़िज़ूल है, केवल लेखकके लिए ही यह सवाल है कि वह जीवन-दृष्टि कैसे प्राप्त करें। आजके लेखनकी विशे-षता यह है कि उसे एहसास हुआ है कि उसके पुरखे, पूर्वज, उसके पहलेके लोग, पासके लोग, दूरके लोग कोई भी उसकी सहायता नहीं कर सकते, कोई भी उसकी सहायता नहीं कर सके और नहीं कर सकेंगे। यह एहसास ही अपनेमें बहुत बड़ा है। लेखकको लगा है कि वह अकेला है और उसे सारे इतिहासको तय करना है, और सारे इतिहाससे लड़ना है। कुछ लोग अन्तर्सघर्षमें भटकते हैं और अपनेसे पहलेके इतिहासको झुठलानेकी कोशिश करते हैं। मुझे ऐसा लगा है कई बार कि पहले का इतिहास झूठा है। यह भी लगा है कि मेरेसे पहलेका इतिहास सही था लेकिन उसके सही हो जानेसे मैं सही नहीं हो सकता। इसलिए आजका साहित्य तमाम साहित्यसे जुड़ा हुआ है। यह कहना कि प्रेमचन्द या यशपालकी कहानीका आजकी कहानीपर प्रभाव है बहुत सीमित दृष्टिका परिचय देना है। इसीकी खोज करनी है तो इसे लम्बी परम्परासे खोजना होगा। हो सकता है, आज की कहानीमें पंचतन्त्रका प्रभाव हो क्योंकि बचपनमें सुनी कहानियाँ आपके मनमें गूँज रही हैं। इस विशाल दृष्टिसे देखनेपर ही परम्पराकी खोज हो सकती है। पाश्चात्यमें भी इसी विशाल दृष्टिसे परम्पराकी खोज की गयी है। शिवप्रसाद सिंहने कहा कि पाश्चात्यका अन्धानुकरण हो रहा है। नक़ल प्रेमचन्दकी हो या काफ़्काकी, वह नक़ल है। सवाल प्रभावोंका है। प्रभाव कहींसे भी छन कर आ सकता है। ईमानदारीसे कहूँ तो मुझे प्रेमचन्दकी कहानियोंसे अधिक अच्छी कई पाश्चात्य कहानियाँ लगती हैं क्योंकि आदमीका बड़ी तेज़ीसे अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो रहा है।

उसे आंचलिकतामें समेटकर नहीं रखा जा सकता, अन्तर्राष्ट्रीयता भीतर-भीतर बदलती हुई दुनिया है। कहीं भी रहकर किसी भी जगहके आदमीसे जुड़ा हुआ रहा जा सकता है। पहले आंचलिकता एक रंगीनता पैदा करती थी। अब कहानियाँ बदली हैं, वे दा-तीन वर्षोंसे नहीं लिखी जा रही हैं, पिछले दस-पन्द्रह वर्षोंसे लिखी जा रही हैं। वह उस आदमीकी कहानी है जो अपने क़ैदखानेसे मुक्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। इसीलिए आजकी कहानीसे नाम उड़ते जा रहे हैं। नाम रख देनेसे कहानी झूठी मालूम होगी। नामोंका कहानियोंसे ग़ायब होना पिछले पाँच-सात सालोंमें सबसे बड़ी घटना लगती है। यह अन्तर्राष्ट्रीयता विश्वमानव होनेकी एक प्रक्रिया है, यह पूरी तरह आदमी हो जानेकी प्रक्रिया है। एजरा पाउण्डने टैगोरकी कविताओंको अस्वीकार किया तो इसका यह आशय था कि वे कविताएँ होते हुए भी आंचलिक कविताएँ थीं। बंगलामें ही वे कविताएँ हैं। अनुवादमें खत्म हो जाती हैं। उसके दर्शनसे उद्‌भूत हो सकते हैं लेकिन वह दर्शनसे उद्‌भूत होना है, कवितासे नहीं। आजकी कविता और कहानीका अनुवाद होनेपर वह वैसी ही लगती है क्योंकि आज दुनिया एक हो गयी है। पश्चिममें कभी बीट कवियोंसे यह नहीं पूछा गया कि तुम कबीरदासका अध्ययन करनेके लिए बनारस क्यों जाते हो? लेकिन हमारे यहाँ यह सवाल उठता है, क्योंकि हमें भय है कि पश्चिम हमें खा जायेगा। लेकिन अगर हम खा जानेके लायक़ हैं तो हमें खा जाया जाना चाहिए। और अगर इस लायक़ नहीं हैं तो हमें कोई नहीं खा सकता। इसलिए प्रभाव पड़ेगा ही, आप चाहें या न चाहें। साहित्यको खानोंमें बाँटकर बहस नहीं कर सकते। कोई जरूरत नहीं कि बहसमें प्रेमचन्दको ही स्मरण किया जाये, बाहरके लेखकोंको भी स्मरण किया जा सकता है। क्योंकि वे भी उतने ही लेखक हैं।

३ उपलब्धियाँ, उभरती दिशाएँ और आधुनिकताके सन्दर्भ....

२५ दिसम्बर। सुबह ९ बजे। विषय : हिन्दी कथा-साहित्य : उपलब्धियाँ, उभरती दिशाएँ और आधुनिकताके सन्दर्भमें अपेक्षाएँ। अध्यक्ष : डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा, डॉ० देवीशंकर अवस्थी, डॉ० शिवप्रसाद सिंह। वक्ता : धनंजय वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह।

• नयी पीढ़ी : छोटी, लेकिन अधिक प्रामाणिक दुनिया...

डॉ० देवीशंकर अवस्थी : आधुनिकता एक नितान्त अपरिभाषित रपटीला शब्द है। लेकिन उसकी व्यापक चर्चा न कर केवल इतना ही कहना है कि आधुनिकता एक साहि-

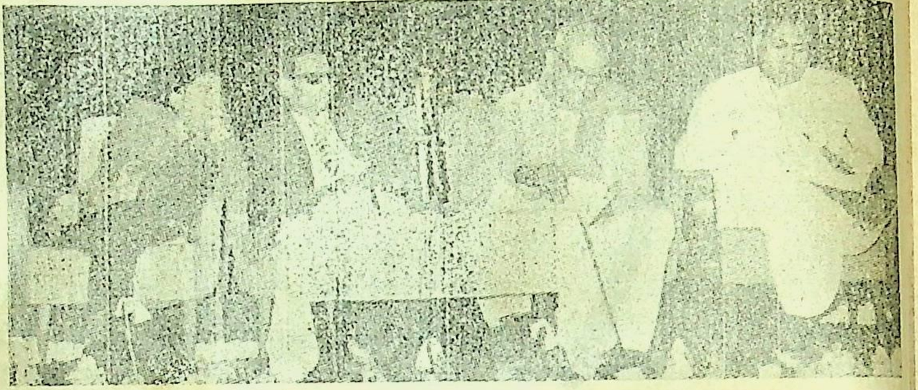

[चित्रमें : श्रीकान्त वर्मा, देवीशंकर अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा, शिवप्रसाद सिंह ।]

त्यिक प्रक्रिया है । इसके पीछे विज्ञान, यन्त्र एवं अन्य तथ्य हैं । लेकिन इस प्रक्रियाके साथ-साथ दृष्टि बदलती गयी है चीज़ोंको देखनेकी । दृष्टिका सन्दर्भ केवल इतना है कि अपने यथार्थको व्यक्ति किस रूपमें देखता है । इसीको लेकर तमाम नयी-पुरानी पीढ़ियोंके झगड़े या नये-पुरानेके द्वन्द्व खड़े होते हैं । मैं ऐसा समन्वयवादी नहीं हूँ कि हर चीज़में मरहम लगाकर मान लूँ कि नये और पुरानेमें कोई द्वन्द्व नहीं है । मैं मानता हूँ कि नये और पुरानेका द्वन्द्व रचनात्मकताका अनिवार्य सन्दर्भ होता है । शायद एमर्सनने यह कहा था कि हर युगको अपना नया ग्रन्थ लिखना होता है, पुरानी किताबोंसे काम नहीं चलता है, इससे यह मालूम होता है कि वह हर चीज़को नये सिरेसे देखने लगता है । यथार्थ जो उसके चारों तरफ़ है वह क्या है ? क्योंकि यथार्थ सारा संसार है । उस पूरे संसारसे हम कुछ चीज़ोंको अपने लिए चुनते हैं । साहित्यके सन्दर्भमें उतना ही प्रासंगिक होता है । इ[illegible] चुननेमें, अपना दृष्टिकोण कहें, जीवनदृष्टि क[illegible] लीजिए, जीवनदर्शन कह लीजिए या आपक[illegible] अपनी आधुनिकताकी पहचान होती है तो यह एक केन्द्रपर खड़े होकर देखा जाये तो पुराने लोग अपने द्वन्द्वकी कहानियाँ लिख चुके हैं। जिस समय प्रेमचन्दके बाद जैनेन्द्रजीने, भगवती बाबूने या चन्द्रगुप्त विद्यालंकारने कहानियाँ लिखनी शुरू की थीं वे उनके अपने जीवनकी, अन्तर्द्वन्द्वकी कहानियाँ थीं और ऐतिहासिक दृष्टिसे उनका महत्त्व है । लेकिन जब वे लेखक अब कहानियाँ लिखते हैं तो सवाल यह देखनेका उठता है कि वे किस यथार्थको व्यक्त कर रहे हैं । बाहरी संसारमें फैली हुई छवियोंको चुननेमें, उनसे सम्पर्क स्थापित करनेमें, उनके सन्दर्भोंको जोड़नेमें वे किस तरहके जीवनकी तलाश कर रहे हैं ? मैं कहूँगा कि जिन कहानियोंको पुराने लेखकोंने लिखा है, इस बीच आकर वहाँपर घटनाएँ नहीं हैं, जो आद[illegible]

हैं उनकी बाहरी वेश-भूषा नहीं है, उनके सम्बन्ध झूठे हैं इसलिए वे कहानियाँ झूठी हैं। और इसके पीछे वह नया संघर्ष था पूरे राष्ट्र-का, पूरे देशका, जिसकी तलाशकी बात उचित थी। एक अपने पूरे-पूरे देशकी आइडेण्टीटीका एक नया दौर था। आप सभी इस बातको स्वीकार करेंगे कि स्वतन्त्रताके बाद देशके व्यक्तित्वकी एक नयी पहचान सामने आनेकी आवश्यकता थी क्योंकि देश नया हो रहा था, समाज नया हो रहा था और उसके लिए एक नयी पहचानकी आवश्यकता थी। उस समाज-की जो आइडेण्टीटी है, उसे बननेकी आवश्य-कता थी। छोटे-बड़े लेखक इस बातको अपने-अपने परस्पेक्टिवमें देख लेते हैं। बिलकुल ऐसा ही हुआ है कि नयी कहानी जब आयी है तब कथाकारने इन चीज़ोंको फिरसे तला-शनेकी कोशिश की है। समकालीन कहानीके साथ आधुनिकताका स्वर जुड़ा हुआ है लेकिन मुझे लगता है कि एक नयी पीढ़ी पुनः आ गयी है। यह नयी पीढ़ी अपने लिए एक नयी पहचानकी तलाश कर रही है। नयी कहानीमें भी यह स्वर उभर रहा है। नयी कहानीके क्षेत्रमें भी नया स्वर उभर रहा है। वे नयी पीढ़ीके कथाकार हैं। मैं साठकी कोई रेखा नहीं खींचना चाहता। लेकिन यह स्पष्ट है कि पुनः दृष्टिका बदलाव हो रहा है। इन कहानियोंको लेकर देखा जा सकता है। रवीन्द्र कालियाकी 'एक प्रामाणिक झूठ', 'विकथा' या श्रीकान्तकी 'शव-यात्रा', दूध-नाथकी 'प्रतिशोध', ज्ञानरंजनकी 'फेंसके इधर-उधर' इन कहानियोंको पिछले दशककी कहा-नियोंसे मिलाकर देखिए। एक भिन्न प्रकारकी स्थिति दिखाई पड़ती है। नयी कहानीके लेखकों-की कहानियोंको पढ़ जाइए तो लगता है कि जो कुछ ये कह रहे हैं उसका उन्हें पूरा ज्ञान है। कहानी, उसके सारे डिटेल्स उन्हें हस्तामलक हैं। इसीलिए कहानीमें आनेवाली समीक्षा-स्थितियोंके मध्य लॉजिकल कनेक्शन्स बराबर विद्यमान दिखते हैं। इसीके साथ पहले गिनायी गयी कहानियाँ देख जाइए, उभरी दुनिया लेखकके लिए भी अपरिचित मालूम पड़ती है। लगता है कि उसके बग़ैर, इस संसारका नक़शा समझे बग़ैर इस दुनियाके सम्बन्धोंकी प्रामाणिकता, कारण-सम्बन्धोंकी जाँच किये बग़ैर कहानी लिखना शुरू कर दिया गया है। ज्ञान प्राप्त करके कहानी लिखनेकी बजाय लिखनेके दौरान ज्ञान खोजता जाता है या कभी-कभी पता चलता है—प्रयाग शुक्लकी 'साँसें'। कहना न होगा कि मैंने सृजन-प्रक्रियाके अन्तरकी ओर आपका ध्यान खींचना चाहा है और यह अन्तर सृजन-प्रक्रियाका ही नहीं है—यह यथार्थके प्रति अलग-अलग रुखोंका भी है।

थर्टीज़-फ़ोर्टीज़के लेखक यथार्थका सृजन करते थे तो पचासके लेखक यथार्थको अभि-व्यक्त करते थे, पर एकदम नया समकालीन कहानीकार यथार्थको खोजता है। पिछली पीढ़ीके लेखक जानते थे कि यथार्थ बिखरा हुआ पड़ा है, अपेक्षित है, कहीं-कहीं ढँका भी है और उन्हें अभिव्यक्त या उद्घोषित करने-की ज़रूरत है। इस चेष्टामें ये लोग शहरकी गलियोंसे आदिवासियोंके घोटुल तक चक्कर

लगा आते थे। विभाजनका यथार्थ, उपेक्षित अंचलोंका यथार्थ, उपेक्षित पात्रोंका यथार्थ, उपेक्षित गलियोंका यथार्थ—इन्हें नये कहानीकार व्यक्त कर सके हैं। 'रस-प्रिया' हो या 'गुल-की बन्नो', 'प्रतीक्षा' हो या 'राजा निरबंसिया' मिथिलाका अंचल हो या बस्तीका या गोंड-वानेका—मूल दृष्टि यही बनी रही। फिर इस यथार्थके नामसे छौंक-लोभी रही सामाजिकताकी, मानवताकी, समस्याओंकी यानी कि रूप बदले प्रगतिवादकी। यों इस क्षेत्रमें योगदान भी प्रगतिशीलोंका ही है। आश्चर्य न होना चाहिए कि कहानीकार-से अधिक सफल कहानी-समीक्षक मार्कण्डेय कहानीकारसे एक स्पष्ट सामाजिक दृष्टिकी माँग करते हैं और कमलेश्वर या यादव भी बार-बार सामाजिकताकी माँग दोहराते हैं। इनकी स्पष्ट सामाजिक दृष्टिका तनिक भी विश्लेषण स्पष्ट कर देगा कि एक प्रकारका भविष्यवाद इनके साथ जुड़ा हुआ है। पर नया लेखक इनको अस्वीकार करता है। अपनी इस दृष्टिके कारण इन लोगोंने काफ़ी समस्या-प्रधान कहानियाँ भी लिखीं और प्रकृतिवादी भी। इन लोगोंके दिमाग़में कहीं यह बाक़ी था कि साहित्य समाजको बदलने-का एक साधन है, साहित्यको आस्थावादी होना चाहिए। ये लोग काफ़ी-काफ़ी दूर खोजते चले गये या यों कहें कि ज्यों-ज्यों बसत जात प्रिय पास भूरि दूरि-दूरि त्यों धँसत जात मन मुकुर हमारे में। कहना न होगा कि साहित्यिक मूल्यांकनके समय आस्था-वादी स्वर सबसे अधिक अप्रामाणिक ठहरते हैं—चाहे वे अन्धा युगमें हों या आत्मजयीके नचिकेतामें या उखड़े लोग, नीरांजना, मलबे-का मालिक और आर्द्रामें। साहित्य इन रच-नाओंमें भी वहीं उभरता है जहाँ पराजय है, हताशा है, डिप्रेस्ड है।

एक और तथ्य की याद दिलाना चाहूँगा-पिछले दशकमें यह बात बार-बार दोहरायी गयी कि पुराने मूल्य टूट गये और नये मूल्य बन नहीं पाये। पर एक विचित्र बात है कि इन कहानीकारों या साहित्यकारोंके कृतित्वका विश्लेषण बताता है कि पुराने मूल्योंके प्रति इनके मनमें बेहद ममत्व था। पुरानी पीढ़ी और उसके मूल्योंकी चर्चा करते समय ये उन्हें टूटता दिखाते हैं, पर ऐसा लगता है कि चाहते यही हैं कि वहीं बने रहते। वे पुराने लोग भी बालिके समान इन कहानीकारोंकी आधीसे अधिक शक्ति ले लेते हैं। चाहे 'गुलराके बाबा', 'चीफ़की दावत' हो—यही दृष्टि बार-बार उभरती है। वस्तुतः कहानी ये लोग इसी ममत्वसे पैदा करते हैं। इसी ममत्वसे कहानी पैदा होती थी––कथा-मूल्यसे। उनके सामने अपनी वयवाली नयी पीढ़ी हतदर्प दिखती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि यही इनकी अपनी संवेदनाकी असफलता है––ग़ैर ईमान-दारी नहीं। ईमानदारीसे घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों, सम्बन्धोंको चुना जाता है, कहानीको अधिकसे अधिक सफल बनाया जाता है पर घूम-फिरकर संवेदना आधुनिकता-के भारको सह नहीं पाती और अन्ततः एक 'नोस्टोल्जिया' बार-बार उभरता दिखता है। अपनी पीढ़ीकी आइडेण्टीटी इन्हें नहीं मिलती

और जब अपनी ही पीढ़ीकी बात करते हैं तो उसके ऊपर वाल्व-पैटर्न पुरानी पीढ़ीको आरोपित करते हैं।

पर प्राकृतिक तथ्यों, बाह्य वस्तु-वर्णनोंके ज्ञानको स्वीकारनेवाली यथार्थ दृष्टिको जब नयी पीढ़ीने अस्वीकार किया है तो उसके साथ ही लिपटी तमाम विचार-दृष्टियोंको भी अस्वीकार कर दिया है। क्यों लिखते हो ? साहित्यका क्या प्रयोजन है ? साहित्यकी क्या शक्ति है ? आजके सन्दर्भमें ये प्रश्न उसके लिए व्यर्थ हो गये हैं। वह जानता है कि साहित्य समाज नहीं बदल सकता, उसके पढ़नेवाले उसके माध्यमसे सामाजिक सम्बन्धों या भावनाओं-कल्पनाओंको अधिक संयोजित रूपसे देख सकता है, पर इससे अधिक नहीं। साहित्य आनन्द देता है, यह तो तभी खण्डित हो जाता है जब आनन्दवादी थीमोंको अस्वीकार कर दिया जाता है। और क्यों लिखता है इसका उत्तर हो सकता है कि अलेन रोब्ब ग्रिएके साथ है कि यही जाननेके लिए लिखता हूँ कि मैं क्यों लिखना चाहता हूँ ? परिणाम है कि सामाजिक समस्याओंपर कहानी लिखना उसका मिशन नहीं रहा। उसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी कहानियोंमें समाज या सामाजिक सम्बन्ध नहीं रहे। बल्कि यों कहें कि समस्याओंका चुनाव व्यर्थ हो गया—क्यों यह समस्या इस प्रकारकी है इसका कोई दो टूक निश्चित उत्तर नहीं रहा। यों महेन्द्र भल्लाकी कहानी 'एक पतिके नोट्स'का विश्लेषण करते हुए मैंने दिखलाना चाहा है कि सामाजिक सम्बन्धोंका वैयक्तिक स्तरपर स्वीकार और अस्वीकार किस प्रकारकी भयावहताकी सृष्टि करता है। 'फेंसके इधर-उधर', 'आदमी', 'बड़े शहरका आदमी', 'इन्तज़ार' आदिके संसार हमारी सामाजिक सचाइयोंको एक भिन्न प्रकारके तीखेपनके साथ व्यक्त करते हैं—तथाकथित सामाजिक कहानियोंके।

इस पीढ़ीकी पृष्ठभूमिमें अब वे लोग भी नहीं है जिन्होंने त्याग किये थे, बलिदान किये थे, टूट गये थे, पर झुके नहीं थे। वे भी नहीं जिन्होंने अपने त्यागको धीरे-धीरे विलासमें डुबोया था। इनके पीछे तो अपनी ही पीढ़ी थी। और परिणामस्वरूप ये अपनी कहानियाँ कहते हैं, अपनी पीढ़ीकी। ये अपनी नज़रसे बूढ़ोंकी कहानियाँ नहीं कहते बल्कि अपनी नज़रसे अपनी कहानियाँ कहते हैं। इनके यहाँ गंगाप्रसाद विमलकी कहानीके समान 'पिता' यदि आता भी है तो पिताके मूल्य नहीं, पुत्रके मूल्य (या मूल्यहीनता-)। पवित्रताबोध साहित्य आनन्दमंजित होते हैं। कहना न होगा कि पहले वर्षोंमें इन कहानियोंमें बूढ़ोंकी संख्या लगातार कम होती गयी है। सामाजिकता या मानवता-जैसे वाक्य इस पीढ़ीके लेखकोंके लिए या तो ॲब्स्ट्रक्शन हैं या एकदम अप्रासंगिक। यह स्थिति लोगोंको भयावह लग सकती है, हो सकता है कि इन्हींमें-से कुछ लोग इन बातोंका विरोध करें—पर कहानियों और वक्तव्यों दोनोंके विश्लेषणसे मैं अपनी बात पुष्ट कर सकता हूँ। इनकी कहानियोंमें पात्रोंके नाम तक ग़ायब हो गये हैं—उनकी हुलिया, पेशा, हॉबी या कार्यकलापोंकी तो बहुत दूर जाने दीजिए। इन

पात्रोंके नाम—यदि सचमुच ही ये पात्र हैं तो । इसीलिए पढ़नेके बाद कहानी या शीर्षक या घटना नहीं याद रहती—ज़्यादासे ज़्यादा यह कि सम्बन्ध क्या थे या फिर वह पात्र दिमाग़में रह जाता है जो अनुपस्थित है । रोज़मर्राका यथार्थ इनकी कहानियोंमें ज्यों-का-त्यों नहीं आता, विरूपित हो जाता है, ज़्यादातर उसका बेयरमिनिमम ही होता है, ये कहानियाँ कभी-कभी एलिगॅरी मालूम पड़ने लगती हैं और अकसर मात्र चुटकुलेबाज़ी । इनके आब्जेक्टिव और सब्जेक्टिव संसारोंमें फ़र्क़ नहीं रह गया है । निजी संसार और बाहरी संसार की टेरेन एक साथ मिली हुई है ।

वस्तुत: जो बातें नयी कहानीमें वैचारिक स्तरपर कही जाती रही हैं—वे ही इन कहानियोंमें अनुभव बिम्बोंमें व्यक्त हुई हैं । इन कहानियोंकी दुनिया छोटी भले हो पर अधिक प्रामाणिक है ।

● नयी कहानी परिवर्तित सन्दर्भोंमें नये भावबोधकी उपज है···

धनंजय वर्मा : उपलब्धियाँ विकासयात्राकी स्मृति-चिह्न हो सकती हैं लेकिन निकष नहीं, पर सारा विवाद उसी समय खड़ा होता है जब एक उपलब्धि निकष बननेका दम्भ करती है । हम सब हिन्दी कथा-साहित्यकी ऐतिहासिक उपलब्धियों-व्यक्तियों और रचनाओंको स्वीकार करते हैं, प्रेमचन्द और प्रसादसे लेकर, अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अश्क, भगवतीचरण वर्मा, नागर आदिके महत्त्वको स्वीकार करते हैं लेकिन उन्हें निकष नहीं मानते । जब नवलेखनकी उपलब्धियोंका सामंजस्य, ऐतिहासिक उपलब्धियोंसे नहीं बैठ पाता, तब उनके प्रतिकूल या उनसे विकसित होनेके कारण ही उनका विरोध होता है; इसीलिए हिन्दी नवलेखन, विशेषकर कथा-साहित्यके सन्दर्भमें पीढ़ियोंका सारा संघर्ष अधिकांशत: वैयक्तिक स्तरपर ही रहा । मूल्य, दृष्टि, प्रतिमान और बोधके धरातलपर उठ ही नहीं पाया, या इस धरातलपर उसे देखनेकी फ़िक्र लोगोंको कम ही रही। नयी या पुरानी पीढ़ी केवल आयु और काल-क्रमके अनुसार विभाजित नहीं होती, जीवनकी गति और इतिहासकी प्रक्रियाको भी वे व्यक्त करती हैं । इनका संघर्ष मूल्य, दृष्टि, प्रतिमान और भावबोधके परिवर्तनके कारण होता है ।

प्रत्येक नयी परिस्थितिमें सामाजिक सन्दर्भ और सम्बन्ध परिवर्तित होते हैं और नये जीवनमूल्योंकी चेतना जाग्रत होती है । ऐसी नयी परिस्थितिमें रचनाके संस्कार और प्रेरणा भी बदलते हैं । यदि जीवनकी गति अधिक सत्वर हुई (जो कि है) तो कभी-कभी पूरा स्वरूप बदल जाता है, तब यह परिवर्तन इतना क्रान्तिकारी होता है कि (नया) विकास न होकर एक स्वतन्त्र उद्भावना अधिक लगता है । यह नयी उद्भावना (नयी पीढ़ी) केवल समय अवधिके धरातल पर ही पुरानी पीढ़ीसे पृथक् नहीं होती वरन् जीवनदृष्टि, वैचारिक स्तर रचनाकी अन्तर्प्रेरणा और शैलीमें भी पृथक् होती है । यह तो सम्भव है कि समय अवधिके

दृष्टिसे पुरानी पीढ़ी वर्तमान रहे लेकिन निश्चय ही वह नये जीवन और नयी मानव-वास्तविकतासे कट जाती है—अपनी निर्मित दृष्टि, स्तर, प्रेरणा, अनुभूति और प्रक्रिया करनेके निश्चित संस्कार और स्वभावके कारण वह नयी जीवन-धारासे संगति नहीं बैठा पाती। यह किसी एक पीढ़ीकी ही नहीं हम सबकी विवशता है। जीवनकी धारा होती ही इतनी निर्मल और वेगवती है कि व्यक्तियोंकी कौन कहे बड़ीसे बड़ी उपलब्धि और मूल्यको भी छोड़कर आगे बढ़ जाती है। उसके आगे कोई भी समझ और शक्ति काम नहीं देती, क्योंकि प्रश्न समझदारी, शक्ति और जागरूकतासे आगे बढ़कर मानसिक बनावट, अनुभूति और संवेदनाके धरातल, जीवनकी पद्धति और दृष्टिका होता है और नयी पीढ़ी पुरानीसे, इन्हीं दिशाओंमें पृथक् होती है। नये कथा-साहित्यमें यह मानसिक संघटन, भाव-बोध, संस्कार, परिस्थितियाँ, जीवनकी पद्धति और प्रतिक्रिया करनेका स्वभाव और दृष्टि परिवर्तित है और समकालीन सन्दर्भमें जहाँसे, जिसमें यह परिवर्तन हुआ और हो रहा है वही नयी पीढ़ीका है। यहाँ न तो उम्रका कोई बन्धन है, न कालका, और निश्चय ही एक नयी पीढ़ीका—मैं फिर कहता हूँ। पीढ़ीसे मतलब व्यक्ति या व्यक्ति समूहसे ही नहीं, मूल्य, दृष्टि, प्रतिमान और भाव-बोधसे है—अस्तित्वसे है। यहाँ 'नया' सापेक्षिक शब्द और विशेषण मात्र ही नहीं है, वह एक मूल्य और चेतना भी है। यदि वह सापेक्ष्य है तो भी काल-सापेक्ष्य नहीं,

मोहन राकेश: 'हमारे साहित्यकारका कर्तव्य बदलते समाज और इनसानके साथ तादात्म्य स्थापित करते चलना है।'

अपने-अपने दायित्व

राजेन्द्र यादव: 'रचनाका प्रणेता केवल कलाकार ही नहीं होता, उसके बाहर और भीतर एक कोई और भी है ...।'

दृष्टि-सापेक्ष्य है। दिक्कालकी सीमाके निकषपर ही उसकी परीक्षा नहीं होगी—एप्रोच, निर्वाह और दृष्टि ही उसके निर्णायक बिन्दु होंगे। संवेदनाके धरातल और भाव-बोधसे ही उसकी पहचान होगी। जिसे हम नयी कहानी या नया उपन्यास कहते हैं, वह परिवर्तित सन्दर्भोंमें नये भाव-बोधकी ही उपज है।

नया कथा-साहित्य एक ऐतिहासिक सन्दर्भकी उपज है—वह परम्परासे नैरन्तर्यके धरातलपर संयुक्त है और परम्परासे पृथक् एक स्वतन्त्र विकास भी, एप्रोच, निर्वाह और दृष्टिके धरातलपर। उसने युगके अनुभूत वास्तवके सारे अन्तर्विरोध, प्रवंचना और असंगतिको भोगा और अभिव्यक्त किया है। वह एक साथ ही मूल्य-भंग और मूल्य-निर्माणका साहित्य है। उसकी तात्कालिक परम्परामें जिन उपलब्ध सत्यों और तथ्योंको स्वयंसिद्ध मानकर विवरण और वर्णनसे सजा दिया गया था या जिन्हें कटे-छँटे विचार-विश्लेषण और निष्कर्षवादका जामा पहनाया गया था उन्हें (उपलब्ध सत्यों और तथ्योंको) नये कथा-साहित्यने अधिक गहराईमें जाकर अधिक व्यापकता और विस्तारके साथ संयमित, स्वस्थ और तटस्थ दृष्टिसे देखा और उनकी प्रक्रिया की है ताकि उस प्रक्रियासे होता हुआ पाठक भी उनतक, अनुभव और अनुभूतिके धरातलपर पहुँच सके। पहले एक स्तरपर अनुभवकी खोज और दूसरेपर उसे उसके सजीव अंगसे पृथक् कर अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न हुआ लेकिन अब एक जीवित सम्पूर्णताके रूपमें ही उसकी खोज और अभिव्यक्ति होती है। नये कथा-साहित्यने समकालीन चेतनाको किसी बौद्धिक ज्ञान या बाहरी माध्यमके सहारे नहीं, अनुभूतिके स्तरपर ग्रहण किया है। अकसर यह सवाल पूछा जाता है कि नया कथा-साहित्य वैयक्तिक और सामाजिक यथार्थको जो अभिव्यक्त कर रहा है, क्या वह पहले अभिव्यक्त नहीं हुआ? हम स्वीकार करते हैं कि ऐसा हुआ है लेकिन उसका रूप क्या था। पहले यह यथार्थ अभिव्यक्ति इतनी प्रत्यक्ष और सपाट थी कि कला, बोधकी जीवन्तताको क्षति झेलनी पड़ी थी, कि फिर यथार्थ और जीवनका रूप भी तो बदला है। समकालीन चेतनाके संक्रमण और संक्रान्तिके साथ उस व्यतीत अभिव्यक्तिका सम्बन्ध कहाँतक है यह भी देखना होगा। फिर प्रश्न यह भी है कि मूल्योंके विघटन और आधुनिक संक्रान्तिसे सम्पृक्ति और उसके संकटों और प्रश्नोंको उनकी रचनाएँ कहाँतक अभिव्यक्त कर पायी हैं? जिन्होंने हिन्दी कथा-साहित्यको मनोवैज्ञानिकता और दार्शनिकता दो उन्होंने ही उसे उसकी परम्परित सहजतासे भी विच्छिन्न किया, जिन्होंने उसे आत्मपरक और विद्रोहात्मक व्यक्तिगत स्वर दिया, उन्होंने उसके व्यापक दृष्टिकोणको भी संकुचित किया है। नया कथा-साहित्य उनकी उपलब्धियों और सीमाओं, दोनोंसे परिचित था। इसीलिए उसने उपलब्धिका विकास और सीमाका अतिक्रमण किया है। व्यतीत सामाजिक जागरूकता जहाँ एक विचार-पद्धति या प्रणाली या एक 'कन्डीशण्ड' मस्तिष्कका परिणाम थी, वहाँ अब वह

एक व्यक्तिकी सम्पृक्त चेतना और निरन्तर भोगते हुए 'सेल्फ़' का परिणाम और प्रक्रिया है, इसीलिए जहाँ वह पहले आरोपित लगती थी वहाँ अब वह हमारी चेतना, संवेदनशीलता और अनुभूतिका अविभाज्य अंग बनकर आती है। उसे अनुभवकी प्रामाणिकताका योग है।

यह सब कहनेकी आवश्यकता इसलिए हुई कि नये कथा-साहित्यमें रचनात्मक मूल्योंका जितना और जेसा विकास हुआ उसके समानान्तर आस्वादका धरातल और मूल्यांकनका विवेक जाग्रत नहीं हो पाया, इसीलिए उसके अस्तित्व या मूल्यपर शंका करनेवाले, पुरानी पीढ़ीमें ही नहीं, नयी पीढ़ीमें भी मिलते हैं। (कुछने तो इसीलिए अपनी अलग-अलग क्यू भी बना ली है। परिणाम यह हुआ है कि किसी-किसी क्यूमें कोई अकेला ही खड़ा है और अपने अकेलेपनकी पीड़ामें ही त्रस्त हो रहा है!) उसपर की गयी चर्चाओंकी पक्षधरताके कारण व्यक्तिगत या वर्गीय सिद्धान्तोंके कुहासेमें एक पूरीकी पूरी उपलब्धिके बारेमें भ्रम फैला हुआ है। इसका एक और भी कारण है। दरअसल पिछले एक-दो दशकोंमें ही उसने इतनी विविध और विभिन्न तथा विरोधी दिशाओंका एक साथ संस्पर्श किया है, विकासकी एक साथ इतनी मंज़िल पार की है कि एक-ब-एक उसकी सम्पूर्ण अन्वित धारणा नहीं बन पायी। 'नयी' या 'पुरानी', 'अच्छी' या 'बुरी' घूम-फिरकर चर्चाएँ यहीं केन्द्रित रही आयीं और न चाहते हुए भी खाने खिचने लगे, वर्ग बनते गये। इससे छुट्टी मिली तो आलोचनाकी नयी भाषा ईजाद करनेके लिए चर्चा बिम्ब, संकेत, शिल्प, प्रतीक और संगीतमें सीमित हो गयी और नये कथा-साहित्य सम्बन्धी मूल्यांकनकी कौन कहे आस्वादका भी कोई धरातल निश्चित नहीं हो पाया—क्योंकि कथा-साहित्यके आलोचक थे ही नहीं, जो थे वे कविताकी बात करते-करते कथा-साहित्यकी ओर टहलते-टहलते आ गये थे। रचनात्मक धरातलपर एक जीवित और जीवन्त विधाके रूपमें कहानी या उपन्यासके मूल्यांकनमें इसीलिए आज भी अव्यवस्था है। कुछ इस स्थितिके कारण और कुछ अपने ही 'स्टैण्ड' को 'जस्टीफ़ाई' करनेके लिए नये कविकी तरह, नये कथाकारोंने आलोचनाको आपद्धर्मके रूपमें स्वीकार किया। इसीका परिणाम है कि एक प्रवृत्ति और धारा दूसरीके प्रति संशयालु है। मैं फिर कहता हूँ, नया कथा-साहित्य कोई प्रवृत्ति विशेष और धाराविशेष ही नहीं है, वह आजकी परिस्थितियोंमें-से उद्भूत मानवीय वास्तविकताकी समग्र संवेदना, संचेतना और भाव-बोधका कथा-साहित्य है। यहाँ जिन उपलब्धियों, प्रवृत्तियों, रचनाओं और व्यक्तियोंकी बात कर रहा हूँ वह नये कथा-साहित्यपर मात्र एक विहंगम दृष्टि है अतः इसकी जो भी सीमा है, वह मेरी अपनी है, नये कथा-साहित्यकी नहीं। इस सीमाके बाहर भी उसका अस्तित्व है इस बातसे मैं इनकार नहीं करता। मेरी एक और भी सीमा है, उपलब्धियोंको मैं रचनाओंसे पृथक् नहीं देख पाता, और रचनाओंको रचनाकारोंसे।

परम्परा-बोध और कला-संचेतनाकी दृष्टिसे राजेन्द्र यादवकी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। अपने आपको पुरानी परम्परासे पृथक् करने और उसका विकास करनेकी एक सायास और जागरूक चेतना उनमें है। पिछली परम्पराकी व्यापक सामाजिक जागरूकताने जहाँ यादवकी रचनाओंको एक प्रगतिशील स्वभाव प्रदान किया है वहीं उसमें आधुनिक बोध और परिष्कृत एवं सूक्ष्म संवेदनाके साथ एक कलात्मक उत्कर्ष भी यादवने संयुक्त किया है। इसके विपरीत युग और व्यक्तिकी सापेक्षिक अभिव्यक्ति कर पानेके लिए निरन्तर एक पुनर्गठनकी प्रक्रिया मिलती है। परिवर्तनकी बलवती आकांक्षा, वर्तमानमें जीनेका दर्शन, समकालीनताके प्रति पूरी प्रतिबद्धता और साहित्यकी कम, समाजकी अधिक जीर्ण-शीर्ण परम्पराको तोड़नेकी, उनसे मुक्तिकी प्यास उनके पहले संग्रहसे ही मिलने लगती है।

और बदली और बदलती हुई मनःस्थितियोंका आलेख कमलेश्वरकी रचनाएँ हैं। उनके यहाँ हिन्दी कथाकी पूरी यात्राके लगभग हर मोड़की प्रतिनिधि रचना मिल सकती है और परम्परासे अन्तर ही नहीं उससे विकासकी दृष्टिसे भी वे महत्त्वपूण हैं। इस लिहाज़से हिन्दी कथाकी परम्पराको उन्होंने आत्मसात् किया और अलग-अलग भोगा है।

हिन्दी कथा-साहित्यमें नवांचलोंकी तलाशके लिहाज़से फणीश्वरनाथ 'रेणु' का आगमन एक धूमकेतुकी तरह हुआ। आते ही उन्होंने महत्त्वके शिखरोंका स्पर्श किया, नये अंचल केवल वस्तुके क्षेत्रमें ही नहीं, भाषा और संवेदनाके क्षेत्रमें भी।

इस नये सम्भावनाशील क्षेत्रकी ओर एक स्वाभाविक आकर्षण मार्कण्डेयकी ग्राम-कथाओंमें भी है और उनमें ग्रामीण जीवनकी वास्तविकताको समझनेका जागरूक प्रयत्न भी है।

जब कहानीमें काव्यधर्मा बिम्ब-संकेत और संगीतके रागोंकी तलाश हो रही थी तब अमरकान्तकी रचनाओंने इनमें-से किसीकी भी फ़िक्र किये बिना अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था।

अस्तित्वके ऐसे ही दैनन्दिन संघर्षकी कहानियाँ शानीकी हैं। उनमें भी सामाजिक और आर्थिक पक्षकी प्रधानता है। वैसे हिन्दी कहानीकी मूल जातीय धारा यथार्थकी है लेकिन शानीका यथार्थ उससे संयुक्त होकर भी पृथक् है।

इस धारा और प्रवृत्तिके साथ हिन्दी कथा-साहित्यमें एक प्रवृत्ति और धारा वह भी है जिसने अज्ञेय और जैनेन्द्रके व्यक्ति-चिन्तन, यथार्थ और सत्यको अपनाया और उसका विकास किया। इस क्षेत्रके शीर्षस्थ और विशिष्ट कथाकार निर्मल वर्मा हैं। उन्होंने कथा-निर्वाहको एक विशिष्ट भंगिमा और कलात्मक संस्कार दिया।

औपन्यासिक प्रयोगोंकी दृष्टिसे धर्मवीर भारतीका 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' का आज भी महत्त्व है। प्रयोगोंके प्रति यही रुझान रमेश बक्षीमें भी मिलती है। उनकी रचनाएँ प्रयोगधर्मा अधिक हैं। प्रयोगकी यह प्रवृत्ति

यथार्थ या नयी वास्तविकताके किसी दबावके एहसाससे अधिक नये शिल्पके प्रति जागरूकता और नयेसे नये प्रतीकका अन्वेषण कर उसे कथामें बुनने और समकालीन बोधसे जोड़नेकी ओर उन्मुख है। 'गूगली', 'कमरेमें कैक्टस' और 'एक आत्महत्या' से लेकर 'अठारह सूरजके पौधे' तक उनमें 'क्रैफ़्ट' का अधिकाधिक मँजाव मिलता है जिसके द्वारा दृश्य, विचार, घटना या चरित्र नहीं, कुछ प्रभाव और प्रभाव-क्षणोंको बाँधा गया है। इसकी सार्थकता यही है कि बहुत ही काम्प्लेक्स संवेदना, बिना अपनी तात्कालिकता नष्ट किये, ज्यों की त्यों कैसे प्रभावित करे।

प्रभावकी बात आ ही गयी है तो नयी कथाके प्रभाव पर भी एक टिप्पणी : उसकी यात्रा, घटनाओं या संयोगोंमें-से न होकर प्रसंगोंकी आन्तरिक प्रतिक्रियाओंके बीच होती है और संवेदनाके सूक्ष्म तन्तुओंपर धीरे-धीरे आघात करती हुई वह एक सम्पूर्ण अनुभवसे गुज़र जाती है इसलिए वह कथा-यात्रा नहीं, पाठकके उस अनुभवसे स्वयंकी यात्रा हो जाती है। नयी कथाकी यही आन्तरिक उपलब्धि है कि वह अनुभवके धरातलपर सार्थक होती है, नैरेशन या कहानीके धरातलपर नहीं। उसमें कोई भी जीवन-सत्य, आईडिया, विचार, निष्पत्ति या निष्कर्ष, निर्मित, निर्देशित और आरोपित नहीं होता; अनुभवों और अनुभूतियों, संवेदना और चेतनाको सम्पूर्ण प्रक्रियासे गुज़रता हुआ पाठक स्वयं उस बोधपर अनायास पहुँच जाता है। वह किसी एकके व्यक्तिगत अनुभव, निरीक्षण या दर्शनसे निर्मित नहीं है। इसीलिए अपने निरीक्षण और दर्शन, जीवन-सत्य या बोधको, पाठक तक केवल पहुँचाती नहीं उसमें स्वयं पाठकके 'पार्टीसिपेशन'के माध्यमसे वही अनुभूति और बोध जागृत करती है। रचनाके धरातलपर एक तटस्थ और वस्तुपरक दृष्टिकोण यही है और यही वह जीवनदृष्टि है जहाँ व्यक्तिका, उसकी अनुभूति, संवेदना और बोधका असम्पृक्त, स्वयंसिद्ध कोई महत्त्व नहीं होता। वह पूरे परिवेश और सामाजिक सन्दर्भ और समकालीनतासे सम्बद्ध होता है। यहीं आकर वैयक्तिक अनुभूति वास्तवमें पूरे युग-बोध और मूल्योंसे सम्पृक्त होकर उनकी 'शिफ़्ट'को व्यक्त करता है।

और इस 'शिफ़्ट'को, समकालीन संवेदनाको हर कथाकार अपने, सन्दर्भमें अपने ढंगसे व्यक्त कर रहा है। इस सारी विचित्रता, सही विकासकी मंज़िलोंकी नयी उभरती दिशाओंका एक समाहित चित्र बनता है। और हिन्दी कथा-साहित्यकी इस समृद्ध और विकासशील परम्परामें नये और समर्थ हस्ताक्षरोंके रूपमें, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, ममता अग्रवाल, ज्ञानरंजन, सुशील-कुमार, प्रयाग शुक्ल, अवधनारायण सिंह आदि ने उसे और भी नये क्षितिज और नयी दिशाएँ दी हैं।

इस सन्दर्भमें अपेक्षाओंका रूप क्या हो? मैं समझता हूँ कि अपेक्षाओंका अधिकार समीक्षकोंको शायद कभी रहा हो, अब उन्हें इस अधिकारको स्वेच्छासे त्याग देना चाहिए। अपेक्षाओंको लेकर चलनेसे ही समीक्षाको इतनी लांछना मिली है। वह रचनाकी

स्वतन्त्रता, उसके आस्वाद और मूल्यांकनपर भी ऐसा प्रतिबन्ध है जिसे रचनाकारने कभी स्वीकार नहीं किया। समीक्षा तो रचनाकार-का सहयोगी और सहयात्री है और नयी रचनाको आस्वादका एक धरातल या अधिकसे अधिक उसके मूल्यांकनका एक विवेक जागृत करने तक ही उसे अपनी सीमा रखनी चाहिए।

● कहानीके सारे मानदण्ड टूट चुके हैं...

श्रीकान्त वर्मा : मैंने पहली बार यह देखा कि कोई आदमी एक घण्टेतक ग़लत बात कैसे कह सकता है। प्राध्यापक मेरी निगाहमें बड़े निरीह व्यक्ति होते हैं। उनके प्रति कोई आक्रोश मेरे मनमें नहीं है। उनके भाषणसे यह असर पड़ा कि वे वफ़ादार आलोचक हैं। उनकी दृष्टिमें सब अच्छे लेखक हैं। मैं तो चाहता था कि मेरा आलोचक यह कहता कि इन लेखकोंमें-से कई लेखक नहीं हैं। जो बातें उन्होंने कभी शानीके बारेमें लिखी होंगी या कही होंगी वही बातें राजेन्द्र यादवके बारेमें कह दीं। कलसे कामूके बारेमें भी वही बातें कह सकते हैं। उनकी बातें विवादास्पद हो सकती हैं लेकिन विवादयोग्य नहीं हैं। धनंजय वर्माने सब दोस्तोंको प्रमाणपत्र दिये इससे मुझे खुशी हुई लेकिन मुझे पता नहीं इन दोस्तोंके मनमें क्या असर हुआ होगा जब धनंजय वर्मासे उन्हें प्रमाणपत्र मिले। मैं कवि हूँ, कहानीकार तो मैं केवल इसलिए हूँ कि कहानी लिख सकता हूँ और बड़ी आसानीसे लिख सकता हूँ। लेकिन मैं वास्तवमें एक कवि हूँ। और कवि होनेमें या कहनेमें गर्व करता हूँ। साहित्यको खानोंमें नहीं बाँटा जा सकता। दुनियाकी सारी कलाएँ एक हो रही हैं। कविताका असर कहानीपर पड़ रहा है, कहानीका उपन्यासपर। इसीलिए उपन्यास विरल और सतही होता गया है। यह कहना बड़ा सीमित दृष्टिकोणका है कि कविताके क्षेत्रके व्यक्तिका कोई दखल कहानीपर नहीं हो सकता। क़ाफ़्काकी कहानी है, चूहे और बिल्लीवाली, जिसमें बिल्ली चूहेको निगल जाती है। आलोचनाको अगर ज़िन्दा रहना है तो उसको व्यापक दृष्टिकोण लेकर चलना होगा। कविताका कोई भी शब्द कहानीमें मिल सकता है। वैसे भी नयी कविताके आन्दोलनके बाद ही नयी कहानीका आन्दोलन चला। कवितामें समसामयिकता-आधुनिकताके सभी सवाल उठाये गये थे। यह एक संयोग है कि कवितामें ये सवाल पहले उठाये गये थे। इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता। यह पीढ़ी एक ही थी जो पचाससे पैंसठके बीच सामने आयी थी। रचनाकार इतिहासको तोड़ता है और उसे बनाता है। शुरूमें नयी कहानीने यही काम किया था। नयी कहानीका जबतक नामकरण नहीं हुआ था तबतक बड़ी तेज़ीके साथ वह आगे बढ़ी, सन् ५६–५७ तक, जब तक नयी कहानीका नाम नहीं था वह तमाम मार्ग ढूँढ़ रही थी। जब नाम उसके साथ जुड़ा तो वह रुक गयी। बहसोंसे कहानीको कोई लाभ नहीं होता। वही लेखक जो ५६–

५७ तक बहुत अच्छी कहानियाँ लिखता था नयी कहानियाँ नामकरण हो जानेपर उनके कथा-कौशलका ह्रास होता गया। क्योंकि वे फ़ार्मूलोंमें क़ैद होते गये, उन्होंने खुद कुछ चौखटे बना लिये। लेकिन इस भ्रमसे सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। हिन्दी लेखकको ज़रूरतसे ज्यादा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी है और वह उसके लिए घातक है। पिछले पाँच-छह वर्षोंमें जो नाम आये हैं इन्होंने सामाजिक भ्रमोंको तोड़नेकी कोशिश की है। नये लेखकोंने कोई प्रौढ़ कहानियाँ नहीं लिखीं, उनका कोई ऐसा दावा भी नहीं है। वे अपने आस-पासके जीवनको, समाजको सब चीज़को पहचानना चाहते हैं क्योंकि सब चीज़ें झूठी लगती हैं, अप्रामाणिक लगती हैं। सभी जगहकी नयी पीढ़ियाँ इस दौरसे गुज़र रही हैं कि कहीं कुछ टूटा है। यह अन्तर्द्वन्द्व

सामने आया है। चाहें वे बीट कवि हों या एंगरी यंग मैन, या रूसका एवतुशेंको, सबमें एक ही बात है—असन्तोष, घुटन, संशय और सही-ग़लतकी निर्णयहीनता। उन्हें लगा है कि किसी चीज़का कोई चौखटा नहीं है। कहानीके सारे मानदण्ड टूट चुके हैं। नये लेखक जो कह रहे हैं उनसे आप जो पहचानते हैं वे ही यह कह सकते हैं कि आजका समाज कहाँ जा रहा है। जब तक आप २०-२५ वर्ष तकके नवयुवकोंको नहीं जानते तब तक आप नहीं कह सकते कि आप समाजको पहचानते हैं। कोई भी लेखक इसके बाद सड़ने लगता है, उसकी विघटनकी प्रक्रिया शुरू हो जाती है। ३० सालके बाद आदमीके अन्तका शुरू होता है। असल शुरूआत २० से ३० सालके बीच होती है। नवयुवकोंने सारे ढाँचे तोड़ डाले हैं और आलोचकोंके लिए समस्या पैदा कर दी है। उन्होंने सारे फ़ार्मको तोड़ डाला है, जिसका अर्थ है सारी व्यवस्थाको तोड़ना। हर नौजवान अपनी जवानीमें व्यवस्थाको तोड़ता है, जो नहीं तोड़ता वह जवान नहीं। हिन्दीमें जिस ऐण्टी-स्टोरीकी, अकथा या प्रतिकथाकी चर्चा हो रही है उसने ढाँचेको तोड़ दिया है, सिद्धान्तोंको तोड़ दिया है।

दो आलोचक : मुखर चिन्तन

गंगाप्रसाद विमल : 'सारी नयी पीढ़ीके सामने एक नया सौन्दर्यबोध उभरता आ रहा है।'

धनंजय वर्मा : 'नया कथा-साहित्य एक ऐतिहासिक सन्दर्भकी उपज है।'

ऊपरी तौरसे यह नहीं लगता कि यह वही विषय है। उसका टूटना ही उसकी इमारत बनने की प्रक्रिया है। फ्रांसमें एण्टी नावेलकी चरचा हुई क्योंकि शिल्पके क्षेत्रमें उसने क्रान्ति करनी चाही। उसे लगा कि सारी विधाएँ अपने आपमें जकड़ गयी हैं और उस जकड़े हुए रूपमें कोई अभिव्यक्त नहीं हो सकता। सारी अभिव्यक्ति एक जगह जाकर गूँगी हो जायेगी। इसलिए यह ज़रूरी हो गया कि सारे फ़ॉर्मको तोड़ दिया जाये। इस टूटनेमें-से ही ऐण्टी नावेल बनी है। हर भाषामें इस तरहकी स्थिति है कि यदि कुछ भी न कहा जाये तो सब कुछ कह देनेकी स्थिति बन गयी है। जैनेन्द्रजी इस बातको पकड़ सकते हैं। फ़ॉर्मके पहले समाज टूटा है। समाजका कोई ढाँचा नहीं बना है। समाजमें सबसे अधिक सभ्य अगर कुछ है तो वह है साहित्य और कला। भारतीय समाज नितान्त असभ्य और असांस्कृतिक हो चुका है। नये लेखक यह पहचानते हैं या पहचाननेकी कोशिश करते हैं कि हमारे पास ऐसा कुछ नहीं है जिसपर हम गर्व कर सकें। कोई भी चीज़ प्रामाणिक नहीं है। न इतिहास, न भविष्य, न आस-पास की चीज़ें। कुछ भी प्रामाणिक है तो अपना अनुभव। तालस्ताय महान् लेखक हैं तो इसलिए नहीं कि पचास लोगोंने कह दिया। इसलिए महान् लेखक हैं कि मुझे लगता है। तुर्गनेव थर्ड क्लास लेखक लगता है। आपका विवेक और अनुभव पर आधारित विवेक ही सबसे बड़ा सत्य है, उसके सन्दर्भमें ही सब चीज़ें सत्य हैं। हमारे अनुभवके सन्दर्भमें ही सारी दुनिया सच होती है।

• पूरी कहानीको एक चीज़ मानकर पुनर्मूल्यांकन कीजिए…

डॉ० शिवप्रसाद सिंह : दो घण्टेसे यह गोष्ठी हो रही है। शुरू-शुरूमें तो लगा कि हम कोई कॉटेज इण्डस्ट्रीज़की फ़िलम देख रहे हैं लेकिन श्रीकान्तजीके आ जानेसे ऐसा मज़ा आया कि जैसे वह ऐतिहासिक फ़िलम हो। धनंजय वर्मा, जो कहानी-सुन्दरीको लेकर भाग रहे थे—खलनायक बनकर, उनपर ऐसा खींच कर बल्लम मारा कि वह नायिका अब फिर आप पाठकोंके बीच आ गयी है। सारे संसारमें कहानीका इतिहास अल्पकालीन है। भारतमें तो कुल पचास-साठ वर्षोंका ही इतिहास है। ऐसी दृष्टिमें कहानीके सभी पहलुओंपर अच्छे-ढंगसे विचार नहीं किया गया है। जो कुछ विचार किया गया है, वह प्राध्यापकों-द्वारा।

कहानी नयी और कम प्रचलित विधा है इसलिए इसपर सारे विश्वमें बहुत कम सामग्री उपलब्ध है; अतः लेखक, पाठक और समीक्षक सबको मिलकर विचार करना होगा। हिन्दीमें तीन तरहकी आलोचना कहानीको लेकर चल रही है: एक स्वयं कथाकार-द्वारा, दूसरी शुद्ध आलोचकों-द्वारा, तीसरी प्राध्यापकीय आलोचना। मुख्य विचारणीय कथाकारों-द्वारा लिखी आलोचना और शुद्ध आलोचकों-द्वारा लिखी गयी आलोचना है। कथाकारकी आलोचना पूर्वग्रहवाली होती है लेकिन शुद्ध

आलोचकोंसे बड़ी आशाएँ थीं। कथाकारोंके बीच तीन पीढ़ियाँ चल रही हैं— हिन्दी कहानी-में। झगड़ा तीन पीढ़ियोंका है–एक है आदर-णीय बुजुर्ग कथाकारोंकी, दूसरी पचासके आस-पास जो कथाकार आये और तीसरी पीढी साठके बाद आये कथाकारोंकी है, जो अपनेको न केवल बुजुर्गोंसे बल्कि बिचली पीढ़ीसे भी कटा हुआ मानती है। इस तिहरे कोणका झगड़ा हिन्दीमें चल रहा है। अवस्थी जीने जो बात कही कि पहली पीढ़ीमें यथार्थका सृजन, दूसरीमें अभिव्यक्ति और तीसरीमें खोज है—यह बातको आगे बढ़ानेके लिए था। श्रीकान्तजीने बड़े सांकेतिक ढंगसे कहा कि कविताका प्रभाव कहानीपर और कहानीका प्रभाव उपन्यासपर पड़ा, परिणामतः उपन्यास सतही होते जा रहे हैं। मेरा खयाल है कि सारा दोष कविताका है क्योंकि कविताने कहानीको और कहानीने उपन्यासको सतही कर दिया। साहित्यको खानोंमें बाँटकर अध्ययन करनेकी आवश्यकता नहीं। तीनों पीढ़ियोंकी कशमकशका गन्दा परिणाम पिछले तीन-चार वर्षोंमें सामने आ रहा है। बीचकी पीढ़ी उखड़े हुए लोगकी पीढ़ी कही जा सकती थी लेकिन अब वे खासे जमे हुए हैं और इन्हें उखाड़नेवाले लोगोंकी पीढ़ी कहा जा सकता है। क्योंकि इनका ध्येय जैनेन्द्रवाली पीढ़ी है, क्योंकि वह विज्ञापित है और सशक्त है तथा दूसरा ध्येय आनेवाली पीढ़ी है कि वह शक्ति-शाली न होने पाये। इसका नतीजा यह होता है लेखकोंका दल अपने आलोचक पालता है। ये जेबी आलोचक हैं जिनके बारेमें बहुत अमर्षकी भावनाकी जरूरत नहीं है क्योंकि यह विज्ञापनका ढंग है। जेबी आलोचक जब अपने गुटके लोगोंका नाम देता है तो जैनेन्द्र जीको डर लगता है कि न तो बिचली पीढ़ी हमारे साथ है, न अन्तिम पीढ़ी, तब वे चौथी पीढ़ीके किसी आदमीको तरजीह देने लगते हैं जिसमें ऐसे-ऐसे नाम हैं जो किसी पीढ़ीमें न हों। यह चीज़ कई रूपोंमें हिन्दीमें चल रही है। मेरा आग्रह है कि पूरी कहानी-को एक चीज़ मानकर उसका पुनर्मूल्यांकन कीजिए। और उसकी जो समस्याएँ हैं उन्हें ध्यानमें रखकर ही काम किया जा सकता है। क्योंकि कमलेश्वरको जैनेन्द्रजीके विरुद्ध कहनेका जितना हक़ है उतना ही हक़ दूधनाथ सिंहको कमलेश्वरके खिलाफ़ कहनेका है, इसलिए कमलेश्वरको अपनी पुरानी और आनेवाली पीढ़ीके प्रति तटस्थ होना ही पड़ेगा, तभी हम अपने सही उत्तरदायित्वको निबाह पायेंगे नहीं तो तबतक श्रीकान्त वर्माका कथन ही जारी रहेगा कि कहानी बड़ी वाहियात क़िस्म-की विधा है। पारस्परिक समझौतेका मतलब समझौता नहीं बल्कि एक तटस्थ और निष्पक्ष मूल्यांकनका है। प्रभाव हमेशा आयेंगे। लेकिन जिस आधुनिकताके साथ आप चल रहे हैं उसकी स्पष्ट परिभाषा अबतक नहीं बनी, इसलिए यह आन्दोलन जहाँसे चला था वहीं मर गया। स्पेण्डरने 'आधुनिकता मर चुकी है' अपनी पुस्तकमें एक तर्क दिया। टी० एस० इलियटने यह कहा था कि आजके मनुष्यकी इन्द्रियबोधक विशेषताएँ बदल गयी हैं। शहरमें रहनेवाला व्यक्ति पेट्रोलकी गन्धका

आदी हो गया है। आधुनिकतामें जो लोग आये वे लोग नौकरीकी तलाशमें थे लेकिन नौकरी मिल जानेपर वे आधुनिक नहीं रहे। आधुनिकता एक मात्र दृष्टिकोण था। हिन्दुस्तानमें यह बात कई रूपोंमें मिल-जुलकर आयी है। इन सबका एक गड्डमड्ड रूप हमारे सामने आज उपस्थित है। मैं स्पष्ट मानता हूँ कि '६०के बादकी पीढ़ीकी संवेदना पहलेवाली पीढ़ीसे पृथक् है। यह संवेदना कैसे बदली है इसपर बिचार होना चाहिए। साठके बाद हमारी सम्पूर्ण चेतना बदल गयी है। पहले हम इतने वीभत्स यानी कि कर्तव्यविमूढ़ या श्लथ, परेशान, ऊबे हुए नहीं थे जितने आज हैं। लिहाज़ा जो बोध दूधनाथ, विमल या श्रीकान्तके मनमें है दूसरोंमें नहीं है। जो विवशता है वह ऐतिहासिक नीतिजन्य है। प्रश्न यह है कि नयी पीढ़ी जो चीज़ सामने ले आ रही है वह क्या है? इसमें कोई शक नहीं कि बादके लोग अपने ढंगका यथार्थ खोज रहे हैं लेकिन यह खोज उनकी बौद्धिक जागरूकता और वैयक्तिकतासे निश्चित ही अनुशासित होगी, इसमें सन्देह नहीं। '५० में जो पीढ़ी आयी थी उसने अधिकसे अधिक यह समझाया था कि वह पुरानी पीढ़ीसे किस तरह भिन्न है। नयी पीढ़ीका यह कर्तव्य होता है कि वह अपनी मान्यताओं और उपलब्धियोंको इस ढंगसे प्रस्तुत करे कि उसपर निष्पक्ष ढंगसे विचार किया जाये। मैं तीन प्रश्न सामने रखता हूँ: क्या वे गिरती हुई, ह्रासशील, ऊब या उकताहट या संत्रासको अभीष्ट या अपरिवर्तनीय मानते हैं?—यानी क्या आप यह मानते हैं कि जो स्थिति इस समय है, ह्रासशीलता है, कोई रास्ता नहीं है, जो संत्रास है या जीवन टूटा हुआ है—यह स्थिति अपरिवर्तनीय है? यदि आप रास्ता नहीं पाते तो पाठकोंसे या जनतासे यह तो कह सकते हैं कि रास्ता नहीं मिलता। बाधाओंको पार करनेकी छटपटाहट है, वह भी विवशतामें बदलती जा रही है। सिचुएशन बहुत इम्पार्टेण्ट है। मानव परिस्थितियाँ साहित्यका केन्द्र हो गयी हैं। लेकिन क्या ये परिस्थितियाँ खण्डशः ही जीवन हैं या इन खण्डोंको जोड़नेवाली कोई समग्र चेतना आधुनिक कथाकारोंके पास है—जो अपने समानान्तर जीनेवाले पाठकोंको न सही दिशादान लेकिन साहससे जीनेकी प्रेरणा तो देती है? साठके बादकी पीढ़ीके लोगोंमें लगता है कि वह अपने पाठकोंको अपना बिटनेस नहीं मानती? एक और प्रश्न है—हमारे साथ देश-कालका परिवेश होता है जो हमें बाँधता है। कहानी-उपन्यास तो जीवनसे जुड़ा हुआ है। हेनरी जेम्सकी परिभाषा इण्टेरेस्ट बिहाइण्ड इण्टेरेस्ट यानी दिलचस्पीके पीछे दिलचस्पी होती है। क्या यह दिलचस्पी है?

● जीवन और रचनाकी भागीदारी ही महत्त्वपूर्ण है...

दूधनाथ सिंह : यहाँ इतनी तरहकी हास्यास्पद बातें कही गयी हैं कि मैं अपनी पीढ़ीकी किस तरह गवाही दूँ? विश्लेषण करके किसी बातको समझाना मेरे लिए कठिन है। इसलिए मैं

तीन अंचल : अलग-अलग

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : 'जैसे क्लासिकल संगीत आपके पल्ले नहीं पड़ता और क्लासिकल टेस्टवाले उसे सुनकर झूम उठते हैं वही बात नयी कहानीके साथ है ।' शैलेश मटियानी : 'कहानी लिखनेकी असमर्थता एण्टी-स्टोरीके मूलमें है ।' राजेन्द्र अवस्थी : 'रेसकोर्सके मैदानमें गड़बड़ी की है जॉकीने…।'

जो भी कहूँगा वह एक लिखनेवालेकी बात होगी । उन भिन्नताओंको सामने रखूँगा जिनके कारण मेरा या मेरे समकालीन लेखकोंका नाम बार-बार आपके सामने रखा जाता है । पीढ़ी एक बहुत बड़ा क्रूड शब्द है जिससे भ्रम पैदा होता है । इसकी जगह दो संवेदनाओंकी, विकसनशील दो दिशाओंकी बात करें तो ज़्यादा अच्छा होगा । मैं यह मानता हूँ कि स्वतन्त्रताके पहले, उसके पहले जो लिख रहे हैं, उनकी संवेदनाका धरातल निश्चय ही एक अलग धरातल था या है । वे हमारी बात, चाहे जितना भी समझाके कहें, वे समझ नहीं सकते । उनमें समझनेकी आदत ही नहीं है चाहे वे जैनेन्द्रजी हों, भगवतीचरण वर्मा हों या फणीश्वरनाथ रेणु हों । वे हमारे लिए सभी एक ही कैटेगरीमें हैं । कारण उसका यह नहीं है कि उनकी बुद्धि हमारे लिए अपरिपक्व है लेकिन उन्होंने ऐसी-ऐसी बातें कही हैं जिन्हें हम ग्रहण नहीं कर सकते, न अपनी बात उनको दे सकते हैं । इसलिए हम जैनेन्द्रजीकी कोई भी बात सुननेको या मानने को तैयार नहीं हैं । यह बात दूसरी है कि यदि मैं सुननेको तैयार नहीं हूँ तो कथा-साहित्यके दूसरे सचेतन कहानीकार जैनेन्द्रजीके पास जायेंगे और उन्हें वे सुनाकर हम तक पहुँचा देंगे । एक छोटी-सी भूमिका आपलोगों-के सामने प्रस्तुत करनेके बाद बहुत ही सीधे शब्दोंमें अपनी बात कहना चाहता हूँ । पहले

तो यह कि आधुनिकताके सन्दर्भमें हमसे कोई अपेक्षा करना ही ठीक नहीं है क्योंकि यदि अपेक्षा करते हैं तो सिवा निराशाके कुछ हाथ लगनेको नहीं। आपको हमसे कोई अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, कारण यह कि स्वतन्त्रतासे पहलेसे जो लोग लिख रहे हैं उनके सामने लड़नेकी या संघर्ष करनेकी एक चीज़ थी, एक लक्ष्य था जिसके लिए बड़े-बड़े लोग लड रहे थे। आप उसे कोई भी शब्दावली दे सकते हैं—आन्दोलन, नैतिकता, आदर्शवाद, दर्शन, भाषाकी क्लिष्टता। स्वतन्त्रताके बाद हमारे सामने कोई लक्ष्य नहीं रह गया जिसके लिए हम सब एक मत होकर फ़ाईट कर सकें। ऐसी स्थितिमें हमारा सारा संघर्ष इण्टर्नल हो गया। मैं इसलिए यह बात कह रहा हूँ कि जब दबाव बाहरी होता है तो सारी लड़ाई दिखाई पड़ती है और जब वह आन्तरिक हो जाता है तो फिर लड़ाई दिखाई नहीं देती। जब अपनोंसे लड़ाई शुरू होती है तो सिवा चुप रहनेके कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। अब हुआ क्या, इन सारे मामलोंमें किस प्रकारके ह्रासकी बात है। स्वतन्त्रताके बाद जिस तरहकी आशाएँ थीं उसके विपरीत हिपोक्रेसीज़ डेवलप हुई हैं। उससे सिवाय इसके कि एक नये ढंगकी विश्वासहीनताकी ओर हम बढ़ते जायें और सारी चीज़ोंको अपने ढंगसे सहज रूपमें छोड़नेकी कोशिश करें, उसमें हम परिवर्तनीय या अपरिवर्तनीय इस तरहका दृष्टिकोण स्थापित करें—यह हमारी मन्शा नहीं है। जब यह बात शिवप्रसादजी कहते हैं तो उसी तरहकी पाज़िटिविटीज़की बातें करते हैं। हमारे सामने जब पाज़िटिविटीज़का धरातल ही नहीं है तो कोई परिवर्तनीय है या अपरिवर्तनीय है इस तरहकी बात कैसे कर सकते हैं। बात यह है कि पहलेके लेखक जैनेन्द्र जी कहानी बनाते थे, इनके लिए बड़ा सहज था कि कहानी लिख लें और किसी पाठकके सामने रख सकें। हम कहानी बना नहीं सकते क्योंकि हम कहानीके लिए किसी दूसरी स्थितियोंमें जानेकी अपेक्षा नहीं रखते। हमारी दृष्टि तटस्थताकी दृष्टि हो सकती है लेकिन हम इतने अभागे हैं कि हम इनवाल्वमेण्ट नहीं कर सकते। जैनेन्द्र जी इतने भाग्यशाली थे और उनके बादके लेखक भी भाग्यशाली हो सकते हैं कि उन्होंने अपनेको तटस्थ रखा। जैसे-जैसे हमपर राजनीतिज्ञोंकी धूर्तताका और सामाजिक धूर्तताका प्रभाव पड़ता जाता है वैसे-वैसे हमे यह विश्वास होता जाता है कि हम अपनेको इन्वाल्वकी स्थितिमें पाते हैं। ऐसी स्थितिमें हमारे लिए कहानी बनाना बड़ा ही मुश्किल है। हम सिर्फ़ यह दिखा सकते हैं एक फ़ार्ममें या पूरी उस रचनामें हम भागीदारकी हैसियतसे उपस्थित हैं। हमारा भागीदार होना या उपस्थित होना, न होना भी हो सकता है लेकिन हम एक भागीदारकी हैसियतसे उपस्थित हैं। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि जो उपलब्धि है या जो दिशाएँ हैं उसे आलोचक या पाठक या हमारे पूर्ववर्ती कहानीकार अगर समझनेकी कोशिश करें तो हमारा विश्वास है कि वे हमारे बारेमें, इस नये लेखन या नयी पीढ़ीके बारेमें पूरा न्याय कर

सकते हैं। क्योंकि ये हमारी जो स्थिति है यह बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण है। जब मैं दुर्भाग्यपूर्ण कहता हूँ तो उसके साथ एक सम्भावना जुड़ी है जैसे श्रीकान्तजीने एक बात कही कि दुनिया बहुत बड़ी हो गयी है। अगर फ्रांसका एक कहानीकार लिखता है या यहाँका कोई लेखक लिखता है तो वह इसलिए नहीं कि वह भारत-की कहानी है बल्कि विश्वमानवकी कहानी है—मैं इस बातसे टोटली एग्री नहीं करता। यह एकरूपताकी बात श्रीकान्तजी कहते हैं। मैं अपनी परिस्थितिमें ही सच हूँ। अगर परि-स्थितिमें नहीं हूँ तो सिवा फ़ार्मूलाबाज़ीके कुछ नहीं है। इसलिए मैं नहीं जानता कि विश्व-मानवकी वह कौन-सी कैटेगरी उपस्थित करते हैं। एक तरफ़ तो हमारी वह बैकवर्डनेस है जिसपर शताब्दियोंका दबाव पड़ा हुआ है, वह अमेरिकाकी तरह फ़्री नहीं है। हमारे ऊपर तो जैनेन्द्रजी लदे हुए हैं; उससे पहले पंचतन्त्र लदा हुआ है और वह इतना हास्यास्पद है कि हम क्या करें? या तो हम उसे फेंक दें और फेंककर नंगे हो जायें लेकिन यह सम्भव कैसे है कि हमारी इतनी बड़ी जो भारतीय परम्परा है उसे हम फेंक दें? इसीलिए हम कहते हैं कि हम दुर्भाग्यपूर्ण हैं। एक तरफ़ हमारे ऊपर शताब्दियोंका बोझ है और दूसरी तरफ़ सारी आधुनिकताके पंजे भी, मतलब साइन्सके, टेक्नॉलॉजीके। उसको आप कहिए कि विदेशी चीज़ है पर आप छूटके नहीं जा सकते। आप जा ही नहीं सकते। यह बात दूसरी है कि आप उसे महसूस न करें। लेकिन एक अतिरिक्त संवेदनशील जो लेखक है वह इन दोनों बातोंको जो अजीब-सी विवशता है उसे महसूस करता है। ऐसेमें शिवप्रसादजी यदि यह पूछते हैं कि क्या यह अपरिवर्तनीय है तो मैं कहता हूँ कि फिर आप क्यों पाज़िटिविटीकी माँग करते हैं? क्या हम इस तरहकी बातोंके उत्तर दे सकते हैं? क्या यह बहुत बड़ी बात नहीं है कि हम इतनी बड़ी सचाई, बड़ी लगनको और सचाईके साथ झेलने और सहनेकी ताक़तको क़ायम रखते हैं? हममें जो इतनी बड़ी टूटन और दबाव है वह हमें तोड़ता नहीं बल्कि हमें और संघर्ष करनेकी शक्ति देता है। हिन्दी भाषाके जो ट्रेण्ड हैं उसे प्रसादजीसे लेकर जैनेन्द्रजीने बिगाड़ दिया। भाषाका विकास प्रेमचन्दजीने जो हमारे सामने रखा, उसे इन लोगोंने अपनी विशेषता क़ायम रखनेके लिए हमसे छीन लिया। अगर यह भाषा २०-२५ वर्षों तक और विकसित हुई होती तो शायद हमें यह कहनेकी गुंजाइश हुई होती कि हम अपने मौनको भी (जैनेन्द्रजीके शब्दोंमें) ज़रा और सही ढंगसे व्यक्त कर सकते। लेकिन परिस्थितियाँ अजीब ढंगसे डेवलप हो गयी हैं। अब उसमें कुल स्थिति यह है कि सिवाय पार्टीसिपेशनके और कुछ नहीं है कि हम अपनेको व्यक्त कर सकें। दूसरा प्रश्न है शिवप्रसादजीका—क्या ये परि-स्थितियाँ समग्र जीवन हैं या खण्डशः? मेरा खयाल है कि हम लोग राजनीतिज्ञोंकी धूर्तता-पर भविष्यवाणी कैसे कर सकते हैं? जिनके हाथमें सत्ताएँ हैं, क्या वे हमारी भविष्य-वाणियोंसे रास्ते बदल देंगे? स्थितियाँ वास्त-विक रूपमें जटिल हैं। यह आपको अतिश-

यक्ति लग सकती है कि नया लेखक हमेशा अतिशयोक्तिमें बात करता है लेकिन बात ऐसी नहीं है। रवीन्द्र कालियाकी अकथा या दूसरी ऐसी ही कहानियाँको पढ़कर लग सकता है कि ऊलजलूल बातें कही जा रही हैं और हमारा आक्रोश बनाया हुआ है। मेरा पूर्ववर्तियोंसे निवेदन है कि हमारी विश्वसनीयता यदि उन्हें अविश्वसनीय लगती है तो वे अपने अन्दरकी अविश्वसनीयताको पहले निकाल दें। हम अविश्वसनीय तरीक़ेसे विश्वसनीय बात कहनेके लिए विश्वासहीनतामें-से गुज़रते हैं।

एक और बात कही गयी कि जीवनकी दिलचस्पी है या नहीं? जब सारा संघर्ष ही जीवन है, इतने सारे दर्शन, फ़ार्मूले, धूर्तताएँ हमारे सामने हैं तो कोई और बात है नहीं जिसमें दिलचस्पी हो। हम अगर जैनेन्द्रकी पीठपर खड़े हैं तो यह मानना चाहिए कि हम अधिकसे अधिक आधुनिक ढंगसे देखने लगे हैं। हमें प्रोत्साहन नहीं मिलेगा तो भी फ़ायदा ही होगा। जीवन और रचनाकी जो भागीदारी है, वही महत्त्वपूर्ण है।

• महत्त्वपूर्ण है कथा-रूढ़ियोंको तोड़ते जाना............

रवीन्द्र कालिया : हम बिलकुल नये लोग हैं और ऐसा लगता है कि हमें अभीसे सेनामें भरती करनेकी कोशिश की जा रही है, नक़्शा बनाकर पेश कर दिया गया है कि पीढ़ियोंकी स्थिति क्या है और दुश्मन कहाँ है। लेकिन नये लोगोंके लिए लड़ाई कहाँ तक अपेक्षित है यह मैं नहीं जानता। एक भाषा है जो निरन्तर मरती जा रही है, उस भाषामें लड़ाई नहीं की जा सकती। सामाजिकता, संचेतना, बोध आदि शब्द कोई अर्थ नहीं देते। भाषा इसी तरह मरती रही तो प्रेमिकाको बुलायेंगे और बिल्ली चली आयेगी। भाषा तेज़ीसे अर्थ खो रही है और नये लोग उसे सम्पन्न बना रहे हैं। यह दशककी सबसे बड़ी उपलब्धि है। आलोचकोंकी बातें मुझे समझमें नहीं आतीं। शिवप्रसादजीके प्रश्न अध्यापकीय हैं और उनका 'यस' और 'नो' में उत्तर दिया जा सकता है लेकिन फिर भी वे महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रश्न था कि क्या छटपटाहट और अनास्थाके स्वर अपरिवर्तनीय हैं? जो नेता कर सकता है, मेरा उत्तर है, वह साहित्यिक नहीं कर सकता। गान्धी, वाल्तेयरका प्रभाव साहित्यिकको वजहसे नहीं, और वजहसे है। इसलिए स्वरके ही बदलने-न बदलनेका प्रश्न नहीं है। दूसरे प्रश्नका उत्तर है कि शायद रास्ता दिखाई नहीं पड़ रहा है। प्रश्न यह है कि सामने कई रास्ते हैं, कौन-सा रास्ता लें। हम अपना रास्ता डिस्कवर नहीं कर पाते। रास्ता ढूँढ़नेकी कोशिश भी नहीं दिखाई पड़ती। जो संत्रास, मृत्यु आदि कहानीमें दिखाई पड़ती है वह चुन्नू-मुन्नू या अड़ोसी-पड़ोसीकी कहानी नहीं है। पहले लेखकका कहानीसे, पड़ोसी या दोस्तका रिश्ता रहता था लेकिन अब वह जीवनसे आगे बढ़कर अस्तित्वकी ओर भी बढ़ा है। मृत्यु पहले केवल धर्मका ही विषय थी। आजका कथाकार हर स्थितिको तीव्रतासे

भोगता है। जीवनमें दिलचस्पी सबकी होती है और मेरी तो गहरी दिलचस्पी है। आधुनिक कथा-साहित्यमें प्रेमचन्दके बाद यथार्थको सर्कसकी तरह देखा गया था। अपने-आपको इनवाल्व किये बिना कुशलतासे रिपोर्टिंग की जाती थी। पाश्चात्य प्रभाव तो सहज हैं। किसी भी देशकी समसामयिक विचारधारासे अलग रहना असम्भव है। यों कोई भी अध्यापक किसी भी प्रभावकी निन्दा कर सकता है। देशकालका परिवेश कोई महत्त्व नहीं रखता। कौशिकजीकी कहानीसे काफ़्काकी डायरी अधिक अच्छी लगती है क्योंकि मनः-स्थिति महत्त्वपूर्ण है। उसकी झलकसे भी तादात्म्य हो जाता है। विश्वमानववाली बात फ़ैशनेबल है लेकिन गलत नहीं, सारा विश्व हमें इन्वाल्व लगता है। नये लोग नया अधिक पढ़ रहे हैं। और ऐसी स्थितिके निकट हैं जो विश्वमें कहीं भी हो सकती है। इधरकी कहानियोंमें देखा जा सकता है कि एक पीढ़ी शिफ़्ट हुई है। यह नहीं कि '६० के बाद सब नये हैं और उससे पहलेके सब पुराने। अकथा तत्त्व पहलेकी कहानियोंमें भी मिल जायेंगे—जैसे राकेशजीकी कहानी 'फटा हुआ जूता'। प्रेमचन्दकी कहानियोंमें जो कमी थी, बादके कथाकार पूरा करते रहे और चुस्त-दुरुस्त कहानियाँ लिखते रहे। अब कथा-रूढ़ियोंको भंग करना ज़रूरी है। कहानी इसीसे जिन्दा रहती है—राकेशकी 'ज़ख्म' या रमेश बक्षीकी 'मातम'। अब बक्षीकी कहानियाँ सहज हो गयी हैं, इसीसे जो कथा-रूढ़ियोंको तोड़ रहे हैं वे हमारे निकट हैं, जो नहीं तोड़ते उनसे हम अपनेको सम्बद्ध नहीं पाते। पहलेकी सांकेतिकतापर-से विश्वास उठ गया है। वह बड़ी स्त्रैण लगती है। अब तो सहज और सीधेपनकी कहानी बढ़ रही है। वर्गीकरण अर्थहीन हो गया है। शायद राजेन्द्र यादवने बात उठायी थी कि कहानीमें पात्रोंके नाम क्यों नहीं होते? शायद यह इसलिए कि उनके पात्रोंके नाम सरनेम सहित आते हैं। अब न नाम महत्त्वपूर्ण है, न घटना, न चरित्र। महत्त्वपूर्ण है संवेदना। एक इण्टेन्स मोमेण्ट क्लाइमेक्ससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। आजकी कहानी आस-पासके घेरोंको छोड़ती हुई आगे बढ़ रही है।

● कहानी : 'वाटर सा दि लॉर्ड एण्ड ब्लश्ड'...

डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा : भाई जैनेन्द्रजीका नाम ११ दफ़े लिया गया लेकिन मुझे लगा कि मैं तो किसी पीढ़ीमें नहीं हूँ क्योंकि १९०५ में जैनेन्द्रजीका जन्म हुआ था और मैंने तब ही लिखना शुरू किया था। शुक्लजीका कहना था : कहानीमें कहानीपन हो, नवीनता, परि-पाक, घटना हो। पात्र बहुत-से हों तो वह उपन्यास हो जाता है। छोटी-सी बात थोड़े-से-में प्रभावके साथ कही जाये, मनोरंजन करे, प्रेरणा दे, स्फूर्ति दे—यह परिभाषा थी। अब जीवनपर बोझ बढ़ गया है इसलिए बड़ी बात थोड़े-से-में कहें तो अच्छा है। जैसे लेक ऑफ़ गेलेली जब खूनसे भर गयी थी तो उसपर एक कविता-प्रतियोगिता हुई थी। कविता

कहानीमें क्या अन्तर है—एक तुकी, एक बेतुकी। उस प्रतियोगितामें सबसे अच्छी कविता कमसे कम शब्दोंमें यह थी—वाटर सा दि लॉर्ड एण्ड ब्लश्ड। जैसे तुलसी बाबाने कहा है—'जाकी रही भावना जैसी' उसीके अनुसार लिखा जा सकता है। आलोचक यदि निश्चित कर ले कि लेखकको गधा कहना है और उसकी मरम्मत करना है तो लेखक गधा न हो तो भी वह मरम्मत किये बिना नहीं रहेगा। महत्त्वपूर्ण है संस्कृतिकी बात, कि रचना सत्यं शिवं सुन्दरम् हो। इतिहास-को वर्षोंमें नहीं बाँटा जा सकता, वह तो धारा है और विकासकी धारापर ध्यान दिया जाना चाहिए।

४ समकालीन बोध और दायित्व : कथा-चिन्तनकी मज़बूत ज़मीन

२५ दिसम्बरकी दुपहर। विषय : समकालीन बोध और दायित्व। अध्यक्ष : मोहन राकेश, भीष्म साहनी, विमल मित्र। वक्ता: शरद जोशी, रमेश बक्षी, राजेन्द्र अवस्थी, कमलेश्वर, श्रीकान्त वर्मा, देवीशंकर अवस्थी, दूधनाथ सिंह, जैनेन्द्रकुमार।

● सामाजिकताका अर्थ है समाजसे एक विशेष तरहसे जुड़े होना…

मोहन राकेश : इस आयोजनमें आनेके बाद यह एहसास मुझे बार-बार हुआ है और वह यह कि शायद किताबें पढ़ते-पढ़ते और किताबों-के माहोलमें जीते-जीते हमें बातें करनेका कुछ ऐसा अभ्यास हो गया है कि जिन बातोंके विपक्षमें हम बात करते हैं, जिन बातोंका हम विरोध करते हैं उन्हीं संस्कारोंमें जीते चलते हैं। जीवनके यथार्थ और उस किताबसे जुड़ी हुई सब चीज़ोंके बारेमें चर्चा करनेवाले हम सब जीवन और यथार्थके सम्बन्धमें न बात करके अधिकांश जीवन और यथार्थके सम्बन्ध-में लिखी जानेवाली बातें करते हैं। हमलोग जिस तरह साहित्य-सम्बन्धी समीक्षासे आक्रान्त हैं, वह अपने देशकी हो या बाहरकी, हम इसलिए आक्रान्त हैं कि बातोंसे लेकर, उठायी जानेवाली बातोंसे एक साहित्यकार, एक सर्जकके रूपमें जीवनका महत्त्व जो हमारे लिए होना चाहिए, जीवनसे जो हमारा जुड़ाव होना चाहिए, जीवनकी सीधी प्रति-क्रियाओंके सम्बन्धमें हमें जिस अन्वेषणात्मक रूपसे सोचना चाहिए, उसकी बात शायद हमारे ध्यानमें आती नहीं। नयी और पुरानी पीढ़ीका झगड़ा, सामाजिकता और असामाजि-कताकी बात कुछ ऐसे धरातलपर की जाती है कि लगता है कि बहुत कुछ सतही और किताबी है। मुझे खेद है, मेरा स्वर कुछ उग्र जान पड़ता है परन्तु मुझे इस गोष्ठीमें भाग लेनेके बाद लगा था कि सतही और किताबी ढंगपर जो बातें हुई हैं उनसे हटकर एक ऐसे वातावरणमें हमलोग इकट्ठे हो रहे हैं जिसमें

चिन्तनके नये धरातल खोजनेके लिए हम एक अन्वेषणात्मक दृष्टिकी बात करेंगे। हमलोग वास्तवमें जीवन और यथार्थकी बात करेंगे। हमलोग सचमुचमें खोजनेकी बात करेंगे। परन्तु छोटे-छोटे दावे, छोटी-छोटी आन्तरिक अपेक्षाएँ हमारे सारे कार्य-व्यापार-को, सारे बोल-चालको चालित किये हैं। लगता है कि एक सर्जक साहित्यकार या कि वास्तविक साहित्यकार आन्तरिक स्थितियोंमें दिलचस्पी लेनेवाले और उनकी खोजबीन करनेवाले आलोचककी दृष्टिसे बात न करनेवाले हमलोग प्रोफ़ेशनल हैं, केवल प्रोफ़ेशनल दृष्टिसे बात कर रहे हैं। अपनेको जमाना, अपनी दृष्टिको जमाना, अपने लोगोंको जमाना, कुछ लोगोंके सम्बन्धमें उलटी-सीधी बातें कहकर लोगोंको लोटपोट कर देना, चुटकुले सुनाना! दूसरोंको केवल दो धरातलोंपर बातें सुननेको मिलीं—एक धरातल ऐकेडेमिक है जिसमें कुछ बड़े-बड़े शब्दोंका रूप स्मरण न कर सकनेके कारण उन्हींको स्वीकार करते हुए या अस्वीकार करते हुए उन शब्दोंके माहौलमें बात हुई और दूसरी ओर कुछ पैराडाक्सेज़, कुछ चुटकुले, कुछ मनोरंजक बातें....जिनसे कि लगता है थोड़े समयके लिए वह मंचपर छा गया सबके ऊपर। सुननेवालेको सन्तोष होता है कि अमुकने अमुकको उखाड़कर रख दिया परन्तु शायद जिस जिज्ञासाके धरातलपर हमलोग आपसमें मिले हैं....पाठकके रूपमें यहाँ उपस्थित समुदायमें अधिकोंकी जिज्ञासा हो सकती है और पाठकों तक ही सीमित यह जिज्ञासा नहीं, जो जिज्ञासा सर्जक

कमलेश्वर : 'हम अपने लिखनेमें समाज, समय और दायित्वके प्रति प्रतिबद्ध हैं...।'

प्रतिबद्धताका प्रश्न

श्रीकान्त वर्मा : 'प्रतिबद्धता असाधारण चीज है लेकिन उसका साहित्यसे कुछ लेना-देना नहीं...।'

साहित्यकारोंके रूपमें हमलोगोंकी है, जिस जिज्ञासाको लेकर, फ़तवेबाज़ीको लेकर नहीं, हमें इकट्ठे होना चाहिए था और जहाँसे हमें आरम्भ करना चाहिए था, मुझे अपने सीमित ज्ञानके आधारपर लगा कि इसमें कुछ नहीं हो रहा है, दिखावेकी कोशिश बहुत है। हर ओरसे दिखावेकी कोशिश बहुत है और गम्भीर स्तरसे लगा कि कुछ लगावके स्तरपर जिस संवेदनाकी बात की जाती है उस संवेदनाके स्तरपर, जीवनके प्रति कुछ लगावके स्तरपर किसी बातको समझनेकी कोशिश शायद हम लोग अपनेसे नहीं कर रहे हैं। मुझे इस बातकी शिकायत अपनेसे भी हो सकती है। आवश्यकता और अपेक्षा अधिक इस बातकी थी कि हमारे अग्रज बहुत-से साहित्यकार इस अवसरपर उपस्थित हुए, साथ ही हमारी समकालीन पीढ़ीके बहुत-से दोस्त यहाँ इकट्ठे हुए, हमारे अनुज साहित्यकार यहाँ बहुत-से आये, शायद अन्वेषणका एक धरातल हमलोग सब मिलकर आपके सद्भावकी भूमिसे खोजनेका प्रयत्न करते। परन्तु जिन बड़ोंसे सबसे पहले अपेक्षा होनी चाहिए, इस तरहके वातावरणमें कि उनका सहयोग मिलेगा, सबसे पहले निराशा उन्हींसे हुई और उसके बाद निराशा निरन्तर बढ़ती गयी। क्या हमारा साहित्यके साथ सम्बन्ध या कथा-साहित्यके साथ सम्बन्ध केवल इतना ही है कि हम उन शब्दोंके माहौलमें उनकी रचनाओंकी श्रेष्ठता और अश्रेष्ठताको प्रमाणित करें ?—जिन शब्दोंके साथ हमारा व्यवहार स्कूल और कॉलेजोंसे लेकर उसके बाद तक होता है, वह उस बिम्ब, क्रिया-प्रतिक्रिया, जीवनकी दृष्टि, बदलती जीवन-दृष्टि·······विषय आप कुछ भी रख लीजिए! बात एक ही तरहकी हो जायेगी, कुल मिलाकर सब एक ही विषय है और वह है पीढ़ियोंका सवाल। मुझे यहाँ एक अलग विषयपर बोलनेके लिए कहा गया है पर लेकिन शायद मुझसे भी यही अपेक्षा की जाती है कि मैं पीढ़ियोंके विषयमें बोलूँगा—और कहूँगा कि अमुक पीढ़ीने अबतक जो काम किया था उसे दूसरी पीढ़ीने यह किया और तीसरीने यह किया। मेरी इस सम्बन्धमें इस तरहकी बात करनेकी दृष्टि नहीं है। हमें अन्वेषणके धरातलकी किस तरह खोज करनी है, किस तरह हमें विषयको समझना है, कहानियाँ क्या लिखी जा रही हैं, क्या कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं, उनका क्या नाम होना चाहिए, उनको आप नयी कहानी कहेंगे या अकथा कहेंगे या सचेतन कहानी कहेंगे या क्या कहेंगे—इस तरहसे पचड़ेमें न पड़कर शायद एक बहुत बड़ा सवाल हमारे सामने था कि साहित्यकारके रूपमें हमारा जीवनके साथ, यथार्थके साथ क्या सम्बन्ध है ? हम किस तरह जुड़े हैं, हमारा समय—देखिए समय और समयकी राजनीति, समय और समयकी सामाजिकता, समय और समयका व्यक्तिबोध—इन सबमें हमें एक रेखा खींच लेनी होगी। जब हम समयकी, परिस्थितियोंकी बात करते हैं, हमारे समकालीन बोध—अपने-आपमें यह शब्द कुछ अधूरा-सा लगता है मगर फ़िलहाल मैं इस शब्दके ऊपरकी

व्याख्या करनेमें नहीं पड़ूंगा, अध्यापक मैं भी रहा हूँ कभी, मगर इस समय अध्यापकी वृत्तिका रूप नहीं चाहिए हमें—समय-बोध या समयका लगाव अलग न करनेसे हमलोगोंका क्या लाभ हो सकता है, एक यह भी समयकी दृष्टि है। यह समयबोध है कि राजनीतिके माध्यमसे हम जीवनसे जुड़े हुए हैं या राज-नीतिक पार्टियोंके माध्यमसे साहित्यसे जुड़े हैं और इस तरहकी प्रणाली या प्रथा हमारे यहाँ बहुत पहलेसे रही····। दूसरा कि हम राजनीति या राजनीतिक पार्टियोंके उथल-पुथलसे हटकर सामाजिक स्तरपर अर्थात् उस सामाजिक स्तरपर, जिसको हम बहुत घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं—मेरे नये मित्र कुछ बहुत चिड़चिड़ाकर सामाजिकतासे एकदम हड़बड़ाकर भागते हैं और हमारे कुछ आलोचक भी सामाजिकता और उद्‌बोध और आस्था-जैसे दकियानूसी घिसे-पिटे शब्द कहकर अपनेको एक नया साबित करनेकी बहुत बड़ी कोशिश करते हैं—उन शब्दोंने आपका क्या बिगाड़ा है ? आप उनके अर्थकी ओर जाइए। और उस अर्थके साथ हमारे जीवनकी जो खोज है उस खोजकी ओर जाइए कि हममें-से कौन कितने लोग उस खोजमें लगे हैं, नहीं लगे हैं, और उस सम्बन्धमें आगे हमारे साहित्यमें क्या प्रयोग हैं, उस सम्बन्धमें हमारी क्या दृष्टि होनी चाहिए। शब्दोंसे भड़कनेकी क्या बात है—जैसे दस-दस सालमें हर शब्द पिट जाते हैं और कहा भी जाता है कि कुछ शब्द पिट गये, उन्होंने अपने अर्थ खो दिये और नये शब्दोंकी खोज जारी है, परन्तु इनसान नहीं बदल गया है, इनसानकी संवेदना निरन्तर बदलती रहती है—यह मैं मानता हूँ। यह भी मैं मानता हूँ कि इनसानका वह प्राचीन शाश्वत रूप नहीं है, जिसे कुछ हमारे ब्रह्मज्ञानी लोग मानते हैं कि अनादि कालसे मानव एक ही रूपमें चला आ रहा है। इनसान निरन्तर बदल रहा है, रोज बदल रहा है। उस बदलते इनसानकी बदलती मनस्थितियोंको समझनेके लिए, उन मनस्थितियोंमें पैठनेके लिए हमारे साहित्यकारका जो प्रयत्न है वह भी निरन्तर उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हुए चलता है। उस प्रयत्नमें, इनसानका स्वरूप नहीं बदल गया है, हम जिस सामाजिक ढाँचे-में जीते हैं, हम अकेलेपनकी बात करते हैं, इसलिए नहीं कि हमलोगोंने समाजसे हटकर फिरसे गुहाओंमें रहना प्रारम्भ कर दिया है, इसलिए नहीं कि जो अनास्थावादी और असा-माजिक दृष्टिसे बात करनेवाले लोग हैं, उन्होंने अपने-अपने गन्दे घरौंदे बसा लिये हैं और उन घरौंदोंमें रहकर ही अपनी ज़िन्दगीको जीना शुरू कर दिया है। नहीं, अगर वास्तवमें सामाजिक जीवनको लेकर या सामाजिक पक्षको लेकर कुण्ठा, वितृष्णा, या हताशा पैदा हो तो क्या है उसका कारण—जब कि समाजके अन्दर जीना है, समाजके साथ जुड़े हुए रहना है। जैसे कि घृणा अपने-आपमें एक लगावकी विपरीत स्थिति है इसी तरह वितृष्णा, अनास्था, आशंका, समाजके साथ जुड़े होने और समाजके साथ बने रहनेकी प्रक्रियाके भाव हैं और इसलिए समाजमें····इसका कुछ कारण

बन जाती हैं समाजकी विसंगतियाँ, समाजका संगठन, समाजकी बुनावट, उनके बीच घुटती हुई मनुष्यकी चेतना अकेलेमें आकाशके नीचे और पर्वत-शिखरपर बैठकर नहीं घुटती। इसीलिए बहुत-से लोग जो समाजकी बातसे घबराते हैं—जैसे आज आत्महत्याकी बात करनेवाले हमें सुनाई देने लगे हैं, जैसे आज अनास्थाका दर्शन लेकर आनेवाले····जिन्होंने अनास्थाको केवल शब्दके रूपमें समझा है। मुझे तो बहुत शक होता है कि वास्तवमें अनास्थाका अर्थ भी वे जानते हैं ? केवल पढ़ी-पढ़ाई किताबोंके आधारपर शब्द उठाकर, शब्दोंको एक झण्डेपर लगाकर और झण्डेको उठाकर चलने लगना—यह साहित्यकारकी दृष्टि नहीं है। अनास्था आदि जितने भी शब्द हैं, उन शब्दोंके अर्थ तक हम जायें तो हम शुरू कहाँसे करते हैं—अनास्था कहाँसे पैदा होती है ? हमारे सामाजिक जीवनकी कुछ विसंगतियोंके कारण अनास्थाका कुपरिणाम सामने है ? आज जहाँ आत्महत्याकी बात की जाती थी—पहले बात की जाती थी कि–'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे'। इस तरह हम वहाँ पहुँचे 'जिसमें जनमे सागर लहरी अम्बरके कानोंमें गहरी, निश्चित प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहलकी अवनी रे।' कोलाहलकी अवनीसे भागकर पहले उसके पर्वतोंकी छायामें, पेड़ोंकी छायामें, निर्झरियोंके किनारे अपना एकान्त स्थान बना लेनेकी बात साहित्यकार करता था और आज भी जब कि वह भी पलायन शायद उसके लिए नहीं रह गया है, शायद प्रकृतिके साथ उसका लगाव नहीं रह गया है, कि प्रकृतिके आकर्षणसे खिंच सके, वह बात करता है आत्महत्याकी। आत्महत्याकी बात करना और आत्महत्या कर लेना दो अलग-अलग बातें हैं, उसी तरह जैसे दुःख झेलना और दुःखकी बात करना दो अलग-अलग बातें हैं। एक उपन्यास है जिसमें लिखा है कि 'दुःख सबको माँजता है।' दुःख किसको माँजता है, किस रूपमें माँजता है, बात करनेवाले दुःखी मनकी बात नहीं जानते, दुःखकी बात करनेवालेकी बात जानते हैं। दुःखके दर्शन ओढ़कर जीना, दुःखकी लम्बी-लम्बी चर्चाएँ कर सकना, दुःख क्या है यह नायक नायिकाको बताये और नायिका नायकको बताये तो उसके सम्बन्धमें वे वाद-विवाद कर सकें—यह अलग बात है और दुःखकी स्थितिमें जीना, दुःखको ओढ़ना, दुःखको झेलना और दुःखके बीच जीना तथा उस दुःखके परिणामोंमें अपने अन्तर्मनकी बात कर सकना एक अलग स्थिति है, ऐसी मनःस्थितिको समझ सकना एक अलग स्थिति है। हमलोग बौद्धिकताकी बातें करते हैं और संवेदनाका ज़िक्र भी बौद्धिक रूपसे करते हैं। बौद्धिक रसके साथ-साथ बौद्धिक संवेदनाकी स्थिति भी हमने स्वीकार कर ली है। बौद्धिक संवेदना है–जिसकी बात की जाती है, जिसकी केवल चर्चा की जाती है। हम कहते हैं कि हम संवेदनाके धरातलपर ज़िन्दगीसे जुड़े हुए हैं। परन्तु उस संवेदनाकी चाल और आपकी रचनामें उस रचनाकी अभिव्यक्ति जबतक नहीं है तबतक संवेदनाकी बात या संवेदनासे हटकर जीवनकी वितृष्णाकी बात, वितृष्णाके

अलावा कुण्ठाकी बात या अनास्थाकी बात, आत्महत्याकी बात, यह सब केवल प्रोफ़ेशनल शब्द लगते हैं, इन शब्दोंके माध्यमसे हम एक किसी झण्डेपर उन शब्दोंको लिखकर एक बैनर लेकर, एक्सेन्सीव शब्द बोलते हुए आगे बढ़ते जाना चाहते हैं। मैं व्यक्तिगत रूपसे यह कह सकता हूँ कि समयबोधकी बात करनेवाले साहित्यकार अलग नहीं हैं, जो पुरानी प्रगतिशीलताको ओढ़े थे। राजनीतिक और सामयिक स्टेटेजीके अनुसार बात करते थे, वे अलग थे। समाज यह नहीं है कि हाथ जोड़कर उसके सामने खड़े हैं। सामाजिकताका अर्थ है कि समाजसे एक विशेष तरहसे जुड़े होना। जो अलगावकी बात करते हैं वे जुड़े हुए होनेके कारण ही अलगावका अनुभव करते हैं। बातें जो हुई वे ऐसे थीं जैसे समीक्षाकी पारिभाषिक शब्दावलीसे घर भरना था और यह सिद्ध करना था कि हम अन्यतम हैं—वितृष्णा और अलगावकी बात करके एक प्रोफ़ेशनल ढंगसे अपने-आपको प्रस्तुत करना है। जब बात दृष्टिसे उद्भूत होती है तब लेखक उसी स्तरपर जीता भी है। उनके जीवनकी परिस्थिति और ढंगको देखकर लगता है कि वे प्रोफ़ेशनल ढंगसे गोष्ठियोंमें उपस्थित रहते हैं और झूठ बोलते हैं। वस्तुतः हम जीवनकी इस ढंगसे कैसे खोज कर पायेंगे? नहीं कर पायेंगे। दो तरहके घोंघे हैं—एक तो वह जो शीशेके टावरमें लटक गया है और उसमें घूमते हुए कहता है कि सारे जीवनको देख लिया है, जान लिया है। काँचके घेरेको न जानकर काँचकी पारदर्शिताके बारेमें ही सब जानता है और वह वैसे जीवनके सार्वजनिक और शाश्वत सत्योंके बारेमें बात करता है। एक नया दल है जिसे टावर तो नहीं मिला लेकिन जो रेतके बाहर झाँकता है और फिर रेतमें छिप जाता है। उनका कहना है—जीवन बीभत्स है, बुरा है, गर्हणीय है, व्यक्तिगत परोक्ष रूपमें इससे नाता-रिश्ता नहीं है। वे अकेले हैं और इस बिन्दुसे रेतमें डूबे हुए घोंघेकी तरह जीवनके सम्बन्धमें फ़तवे दिये जाते हैं। मुझे खेद है कि जीवन और यथार्थके सम्बन्धमें बात ठीक बिन्दुसे शुरू नहीं हुई। लोग इस तरह या उस तरहकी घोषणाएँ करते रहे हैं। समकालीन दायित्व कोई ओढ़ा हुआ परचम नहीं है। वह जीवनका बिन्दु है। विषयको अन्वेषणके धरातलपर लिया जाना चाहिए।

• आधुनिकताको परिवर्तित जीवनके सन्दर्भमें देखना चाहिए...

शरद जोशी : राकेशजी जिनसे क्रोध कर रहे थे वे क्रोधके नहीं दयाके पात्र हैं। किसी कविसे जो कविताको बड़ी विधा और कहानीको छोटी विधा मानता हो और यों ही किसी कारणसे कहानी लिखता हो उससे घबरानेकी या उसके बारेमें बहुत ज्यादा सोचनेकी आवश्यकता नहीं है। प्राध्यापक नहीं होनेके कारण मैं लम्बा भाषण नहीं दूँगा। प्राध्यापककी आत्मामें तो एक घड़ी बन जाती है और वह घड़ी ४५ मिनिट बाद अलार्म क्लाककी

तरह घण्टी बजा देती है और जैसे ही वह घण्टी बजती है उसे खयाल आता है कि पीरियड खतम हो गया और वह अपनी जगह जाकर बैठ जाता है। मुझमें घण्टी नहीं है इसलिए कुछ समयमें ही मैं चला जाऊँगा क्योंकि मैं उस पीढ़ीका प्रतिनिधि हूँ जो पीरिएड अवाइड करती रही। कलकत्तामें मैंने भाषणके ज़ोरदार और लम्बे होनेके लिए दो बातें सीखी हैं। एक यह कि वक्ताका कन्फ़्यूज़्ड होना ज़रूरी है। जो कन्फ़्यूज़्ड आदमी होता है वह दिमाग़-पर ऊबड़-खाबड़ ढंगसे चलता है और गुद-गुदी पैदा करता है। वह कन्फ़्यूज़्ड आदमी किसी भी पीढ़ीका हो। मैं जैनेन्द्रजीके विषयमें कुछ नहीं कहूँगा जब कि उनकी हार्दिक इच्छा है कि उनके विषयमें कुछ कहा जाता रहे। उनके कन्फ़्यूज़नको समझनेके लिए निवेदन है कि उनका साहित्य पढ़ें। जैसा कि श्रीकान्तजीने कहा, समस्यापर बहस नहीं होती है और नाम चले आते हैं। इसके बाद उन्होंने कुछ नाम गिना दिये। धनंजय वर्माके बारेमें उन्होंने कहा कि उन्होंने काफ़ी लम्बा कैनवैस लिया, यह उनकी शिकायत थी लेकिन अन्तमें वे खूब बोले कि उनका दृष्टिकोण व्यापक होना था। इस व्यापकतासे उनका आशय किस संकीर्णतासे था पता नहीं। नयी कहानीके बारेमें उन्होंने कहा कि जबसे नामकरण हुआ वह बिगड़ गयी। नयी कविता-का नाम भी उन्होंने लिया लेकिन जानेसे पूर्व वे 'अकथा'का नाम दे गये, जो हिन्दीमें प्रारम्भ भी नहीं हुई है और उसका नामकरण वे कर गये। यही कनफ़्यूज़न है जिससे भाषण ज़ोर-दार बनता है। उपलब्धिकी बात हिन्दीमें होती है। मैं कथा-साहित्यकी दो उपलब्धि मानता हूँ। एक डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल और एक श्री निर्मल वर्मा। बाक़ी सब तो सहज हैं। वह तो होता ही है, लोग अपने अच्छा लिखते ही हैं परन्तु उपलब्धि दो ही हैं। निर्मल वर्मा इस छोरपर, लक्ष्मीनारायण-लाल उस छोरपर। लक्ष्मीनारायण लाल रीतिकालीन कथाकार, इस छोरके ऊपर और निर्मल वर्मा जो लन्दनसे चले आये हैं, प्रागसे चले आये हैं, दूसरे छोरपर। बाक़ी जो बीच-का रास्ता है वह सहज चला गया है। इन दोनों छोरोंके कारण हिन्दी कहानी फैल गयी है। श्री लाल भाभी नहीं लिखगे, वे लिखेंगे भौजी, इसलिए कि भौजी लिखकर वे चमत्कार पैदा कर देते हैं और श्री निर्मल वर्मा यह नहीं लिखेंगे कि हम बरामदेसे रसोईघरमें गये और रसोईघरसे बरामदेमें गये फिर बरामदेसे सड़कपर गये, सड़कके सामनेके शराबघरमें गये। वे कहेंगे—कीचनसे कैरीडोरमें गया, कैरीडोरसे स्ट्रीटमें, स्ट्रीटसे पबमें गये, पबमें ड्रिंक करने बैठे। इसलिए जहाँ यहाँ उप-लब्धियोंकी चर्चा है हम, न राकेश, न कम-लेश्वर, कोई उपलब्धि नहीं हैं। उपलब्धि ये दो व्यक्ति हैं क्योंकि बड़े-बड़े शहरोंमें कुछ ज़रूरतें पैदा हो गयी हैं। यहाँकी व्यस्ततामें ज़िन्दगी देखनेको नहीं मिलती, इन्हें चम्मचोंसे संस्कृति पिलायी जाती है। दिल्लीके लोगोंको थोड़ा-सा आन्ध्रप्रदेश पिलाया जाता है, फिर बंगालका अध्ययन कराया जाता है। यह संस्कृति, जो घूँट और टैबलेटके रूपमें ले रहे

हैं, इससे दो छोरपर वे कथाकार उपस्थित हो गये। एक आदमी सिरपर टोकरी रखकर आता है कि लीजिए, यह शुद्ध गाँव है। एक कहता है कि फ़ौरन करेन्सीकी तकलीफ़के बावजूद भी इतने कथानक और इतने आईडियाज़ लेकर आया हूँ, इनको आप खरीद लीजिए। कल कमलेश्वर कह रहे थे—जीवन-दृष्टि दो होती है, एक अन्यायके पक्षमें, एक अन्यायीके विपक्षमें। लेकिन जीवनदृष्टि दो ही हैं हिन्दुस्तानमें—एक प्राइवेट-सेक्टरकी, एक पब्लिक-सेक्टरकी। एक फ़ासिज़्मकी एक डेमोक्रेसीकी। एक सनातनी लोगोंकी है, एक नये लोगोंकी है। यही साहित्यमें व्यक्ति होता है, लेकिन जो नयी पीढ़ीका है, जो ईमानदार है, जो अपना यश मिटाकर भी, अपनी ज़िन्दगीको मिटाकर भी ईमानदार रहना चाहता है उसको इन सब शक्तियोंके साथमें संघर्ष करना पड़ेगा। इसमें राकेशजी नाराज होकर संघर्ष करें तो संघर्ष करना पड़ेगा और हरिशंकर परसाई खुश होकर, मस्त रहकर संघर्ष करें तो करना पड़ेगा। मुक्तिबोधको जो संघर्ष कवितामें करना पड़ा वह और लोगोंको कहानीमें करना पड़ेगा। इस तीन दिनकी गोष्ठीको तीस दिन चलाकर देख लीजिए, जो जैसा आया है वह वैसा ही लौटेगा। पुरानी पीढ़ीके कथाकार सामन्तवादी सौन्दर्यबोधसे ग्रसित थे, वे भाषणमें कुछ भी कहें लेकिन जब जीवनमें रहते थे तो बहुएँ लम्बा घूँघट निकाल लेती थीं। पिता आग़ा हश्रके ड्रामोंके फ़ादर-जैसा पेण्ट होता था, प्रेमिकाको खास ढंगसे, पतिको खास ढंगसे—एक ही ढर्रा स्टाक

भीष्म साहनी : 'अब तो चरित्रहीन और घटनाहीन कहानियाँ लिखी जाती हैं लेकिन पहले भी श्रेष्ठ कहानियाँ कहाँ लिखी गयीं ?'

अवान्तर बातें....

शरद जोशी : 'अध्यापकके दिलमें एक घण्टी फ़िट होती है, वह ४५ मिनिट बाद बजती है।'

करेक्टरका था। ढर्रेकी कहानी, ढर्रेका करेक्टर। दो लड़का एक लड़की, एक लड़की दो लड़के। उसके कुछ परमेण्टेशन काम्बिनेशन, उसके बादमें अजीब ज्यामेट्रीके साथ कहानी खतम। कहानीकी पुरानी परिभाषा ऐसी थी जैसे ह्वीलर स्टालवालेकी दी हुई हो। वे इसी पुराने ढांचे और सांचेसे नयी पीढ़ीके लोगको समझाने आते हैं कि कहानी ऐसी-ऐसी होती है, उसे ऐसे-ऐसे बनाओ। दूधनाथ सिंहने कहा कि परम्परा बोझकी तरह है, यह हालत उसी प्राणी-जैसी है जो बोझको बोझ समझता है, यदि इसे बोझ समझते हो तो भइया, इसे उठाकर फेंक दो, नहीं तो उस प्राणीमें और तुममें कोई अन्तर नहीं रह जायेगा····। रहस्यवादमें कुछ ईश्वरके एक्सपर्ट पैदा हो गये थे। प्रगतिवादमें भी एक्सपर्ट पैदा हो गये थे, अगर आधुनिकतापर ज़ोर दिया तो आधुनिकताके एक्सपर्ट तैयार हो जायेंगे। हिन्दीका कथाकार, जो मध्यम वर्गका जीवन जी रहा हो, वह आधुनिकताका एक्सपर्ट नहीं हो पायेगा और उसे उन एक्सपर्टोंकी बात माननी पड़ेगी जो आधुनिकताको समझते हैं कि कौन-सी धुनके साथ कौन नाच होता है, कौन-सी शराबके साथ कौन-सी शराब पी जाती है, किसका कैसे कॉकटेल बनाया जाता है। उसका स्पेशलाइजेशन हो जायेगा। आधुनिकताको परिवर्तित जीवनके सन्दर्भोंमें समझना चाहिए। बाह्य रूपमें उसे पकड़नेसे कहानी हाथमें नहीं आयेगी—थोथा जीवन आपके हाथमें आयेगा। जैसे ओढ़े हुए दुःखका निर्वाह होता है, वैसे ओढ़ी हुई आधुनिकताका भी लोग निर्वाह करने लगेंगे। किसी आलोचकको कहानीकी समीक्षा लिखाने बैठाइए और कोई महाकाव्य प्रकाशित होते ही वह उधर भाग जायेगा। आलोचककी प्रवृत्ति कविताकी समीक्षाकी होती है, महाकाव्यकी समीक्षाकी होती है और इच्छा यह भी कि धीरे-धीरे हेड ऑफ़ दि डिपार्टमेण्ट हो जाऊं। आन्तरिक जीवन भी उनका अलग क़िस्मका होता है। इसलिए उनसे हमारा मेल नहीं। इसलिए हमारे सामने एक ही रास्ता है कि आनन्द कीजिए, जो तबीयत आये, बढ़िया-सी कहानी लिखिए, हथौड़ेकी तरह लिखिए, सिर-पर पटकिए और कहिए कि आप हमको गाली दीजिए। पत्रिका छापें तो उसमें हमारी रचना न दें, प्रकाशनमें हमारी किताब न दें, लेखमें हमारी चर्चा न करें, परन्तु हम कहानी लिख रहे हैं और दमके साथ कहानी लिखेंगे। यदि कोई प्रकाशन शुरू करते समय मुक्तिबोधकी रचना नहीं छापता या यदि वह सारिका प्रकाशित करते समय मेरी कहानी नहीं छापता तो इसमें बुरा नहीं मानना चाहिए। यदि मुझे ईमानदार रहना है, लिखना है, तो जीवनकी ये सारी तकलीफ़ें, मुसीबतें सहन करनी पड़ेंगी।

• ऊँचाईकी तलाश सीधे-सीधे जीवनको जीना है···

रमेश बक्षी : राकेशजीने जिस समकालीन बोधकी बात कही है उसके बारेमें इस गोष्ठी

और इससे पहलेकी गोष्ठीमें और इससे पहले भी कई बार सोचा है कि बात होनी चाहिए गम्भीरतासे। हर गोष्ठीमें यही माहौल हुआ कि कोई बात उधरसे आयी, कोई बात इधरसे, कहीं पैराडॉक्स, कहीं कुछ, कहीं कुछ और जो गम्भीर बात होनी थी वह बचके चली गयी। राकेशजीका संकेत बड़ा वाजिब था। इससे पहलेवाली गोष्ठी रोचकता और मनोरंजनकी दृष्टिसे सफल रही। समीक्षावाली गोष्ठीसे बड़ी अपेक्षाएँ थीं। इससे पहली चर्चा जीवनदृष्टिपर केन्द्रित थी। लेकिन वही दृश्य जो कभी इलाहाबादकी गंगाके किनारे उपस्थित हुआ था, वही यहाँ उपस्थित हुआ। मनमें यह बात भी थी पहले कि कुम्भी न करवा पायें तो एक अर्द्धकुम्भी ज़रूर करवा दें और जो कुछ भी तर्पण किया जा सके कर दें लेकिन लिखते-लिखते मनका यह उत्साह कहीं टूटना रहा है। कई बार लगा है कि गोष्ठीमें चर्चा करना और झगड़नेकी बजाय गम्भीरतासे बैठकर लिखना ज़्यादा ज़रूरी है। इसका कारण यह है कि हम लोग जीवनके जितने गहरेमें डूबते जा रहे हैं, जिस बोधको देते हैं और जिसके बीचमें-से गुज़रते जा रहे हैं और उसे इतनी गम्भीरतासे लेते जा रहे हैं—हर क़दमपर हमारी ईमानदारीकी परीक्षा होती जा रही है। बाज़ वक़्त झल्लाकर और चिल्लाकर भी बोल देना पड़ता है कि मैं ईमानदार आदमी हूँ जब कि ईमानदार आदमीको यह बोलनेकी ज़रूरत नहीं है। यह लगातार लगा है कि हिन्दीका साहित्य जिस ढंगसे लिखा जाता रहा है और विश्वविद्यालयमें जैसी पढ़ाई होती रही है और मुझे या मेरी पीढ़ीके समझदार लोगोंको सेंसरने जिस तरह रोका है कि हम कोई भी ठीक काम नहीं कर पाते हैं.... इसके लिए बड़े विरोधसे कुछ करना ज़रूरी है। हर बार यही देखनेमें आता है कि कहीं शुक्लजीने कोई बात कही है और बहुत सारे लोगोंको दिग्भ्रमित कर दिया है। भारत यदि कृषिप्रधान देश था तो आज भी कृषिप्रधान देश है। साहित्य अगर समाजका दर्पण था तो आज भी बेचारा दर्पणका दर्पण बना हुआ है। यह सब देखकर ऐसा लगता है कि हम इतनी सारी बकवास बातोंको भुना-भुनाकर अपनी नौकरियाँ कैसे पक्की कर सकते हैं? और पेन्शनको निश्चित कैसे कर सकते हैं? जो प्राध्यापक हैं, मैं यह नहीं कहना चाहता कि वे दयाके पात्र हैं अथवा कुछ और हैं, और जीवनमें अगर यह भी समझते हैं कि साहित्यमें कहीं कोई गरिमा है तो उसके बारेमें वे गम्भीरतासे सोच सकते हैं। प्रमुख बात जिसकी ओर संकेत करना चाहता हूँ वह है काल-विभाजनकी बात। एक ग़लत समयमें ग़लत ढंगसे काल-विभाजन हो गया कि इतनेसे इतने समय तक वीरगाथा-काल और उसके बाद भक्ति-काल, फिर रीति-काल....। साहित्यके समझदार लोगोंके मनपर यह बात चढ़ी हुई है कि काल-विभाजन उतरता ही नहीं। जैसे स्वतन्त्रताके बादकी कहानी या '६० के बादकी कहानी। इससे ठीक ढंगसे चर्चा नहीं हो पाती। जो लोग जहाँ कुरसियोंपर बैठे हुए हैं उसे बचाना भी ज़रूरी है। लेकिन कुरसीकी एक टाँग टूटी हुई है तो उसपर बहुत

सन्तुलित ढंगसे बैठना पड़ता है। इससे बड़ा दिग्भ्रम पैदा होता है। नयी पीढ़ीका जो भेद हम लोगोंके सामने आया कि मैं नहीं समझता कि कहीं एक नाम उछाल दिया गया था या किसी एक नामको इन्वर्टेड कॉमामें कर दिया था इसलिए वह चीज़ कटकर अलग हो गयी····। इस तरहकी बात जो लोग करते हैं वह उनके खासे अज्ञानका परिचय है। बात असलमें यह हुई थी कि जीवनके संघर्षमें खपते और चलते हुए कहीं यह लगा था कि हमसे पहलेके लिखनेवाले लोग साहित्यको बिलकुल साहित्यकी तरह लेते हैं। मैं नहीं समझता कि जिस व्यक्तिने इस मेज़को बनाया था, उसमें एक खास क़िस्मका सौन्दर्य-बोधथा या कुछ और था। उसे एक लकड़ी चाहिए थी, कील चाहिए थी, उसके मनमें एक तरतीब थी और उसने इसे गढ़कर रख दिया है। जिनको मेज़ बनाना है उनको कहीं दिक़्क़त नहीं, वे बड़ी आसानीसे बना सकते हैं। दूसरी एक चीज़ होती है कि जो लोग मेच्योर नहीं होते हैं वे किसी एक बिन्दुपर रुक जाते हैं और जीवन-भर अच्छीसे अच्छी कहानियाँ लिख पाते हैं। जो ऐसा कर पाते हैं, हमेशा सतत रूपसे मनोरंजन भी दे पाते हैं। लेकिन इस मेरी पीढ़ीके साथ सबसे बड़ी दिक़्क़त अगर कुछ है तो मेच्योर होते रहनेकी दिक़्क़त है। हर बार हर साल अपनी मेज़ साफ़ करके लिखते समय मुझे लगा है कि पिछले सालके लिखे हुएका कोई मानी नहीं है। एक सालकी यात्रा कहीं मुझे इतना दूर, इतना आगे ले जाती है कि पीछेकी तरफ़ मुँह फिराकर देखनेकी तबीयत नहीं होती। जब भी उसकी तरफ़ देखना पड़ता है मनको यही लगता है कि इसमें कोई दम नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई बात नहीं। यही नयी पीढ़ीका विभाजन हुआ और यह जो कटकर अलग आयी है, निश्चित ही। मैंने खुद बहुत सारे पहलेवाले कहानीकारोंकी कहानियाँ पढ़ी हैं और मुझे लगा है कि इस तरहकी कम्पीटीशनकी भावना मेरे मनमें आयी है कि फ़लां व्यक्तिकी तरह मैं भी कहानी लिख पाऊँ। लेकिन जब मैं वैसा नहीं लिख पाया, वैसा नहीं कर पाया और जब मुझे ऐसा लगा कि कहानीकी इतनी बड़ी भीड़में सचमुच कहीं एक अलग क्यू करनी है तो मुझे ऐसा जरूर हुआ है कि अलग हटकर भी बात की जा सकती है। और बात है तो बात बोलेगी ही—यह भी कहीं मनमें बराबर लगता रहा है। जिस कालविभाजनकी बात मैंने कही उसका हल इस प्रकार है कि हम लोग एक-एक दशकमें टुकड़े करके कहानीकी चर्चा करें तो कहीं ज़्यादा सुविधा होगी बनिस्बत इस बातके कि यह है आज़ादीके बादका साहित्य, यह है जैनेन्द्र जीके पहलेका साहित्य और जैनेन्द्र जीके पीछेका साहित्य यह है। मैं समझता हूँ कि इस तरहका विभाजन हिन्दी साहित्यके कुछ इतिहासकार करें और हों भी तो उन्हें फाड़कर फेंक देना चाहिए। उससे हटकर अगर किसी पीढ़ीकी चर्चा की गयी तो इस पीढ़ीका ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जा सकता है, ठीक-ठीक समीक्षा की जा सकती है। हालाँ कि किसी भी मूल्यांकन, किसी भी समीक्षाके प्रति किसी भी लेखकको

चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है। यह मैं केवल इसलिए कह देना चाहता हूँ कि जो मेरे पाठक और पाठिका हैं उनसे जो मेरा सीधा-सीधा सम्बन्ध है उनसे मैं अपने विचारोंको कहूँ। उन नये लोगोंको जितना बिगाड़ सकता हूँ, यह ठीक उस करप्ट शब्दका अनुवाद ही है, उतना करनेमें कहीं मुझे दिक़्क़त नहीं होनी चाहिए। मैं निश्चित जानता हूँ कि मेरे विचार इतने अधिक संक्रमणशील हैं कि कहीं बैठकर मैं दस वाक्य बोलूँगा तो कमसे कम दो वाक्य आपसमें टकरायेंगे जिनसे दस वाक्य फिर बनेंगे, क्योंकि यह बात मैं दावे और दम्भके साथ कहता हूँ कि सीधे-सीधे जीवनमें-से गुज़रकर, अनुभूतिको पकड़कर अपनेसे जिसने भी व्यक्त किया है वह बहुत ज़्यादा ईमानदार है। उसके लिए कहीं प्रयत्न नहीं किया है। यहीं जाकर कहानीके आप सीधे-सीधे दो भेद कर सकते हैं : एक सायास कहानी और दूसरी अनायास कहानी। सायास कहानी इतनी ज़्यादा लिखी गयी है, कि उसके तन्त्र, उसके शिल्पके सारे भेदोपभेद इतने ज़्यादा हैं कि कोई भी व्यक्ति उनमें-से कहीं भी आँख मूँदकर उँगली रख दे और जो भी नुस्खा मिल जाये उस नुस्खेको पकड़कर लिखना शुरू कर दे, तो मैं आपसे कहता हूँ, कि वह छह महीनेमें सफल हो सकता है। लेकिन जिसे अनायास रहना है और निश्चित ही कोई प्लान बनाकर, कोई एक तरतीब बनाकर, आगे नहीं बढ़ना है, तो वह अनायास होकर ही जियेगा और अनायास होकर ही अपने-आपको व्यक्त करेगा। मैं कई बार यह भी कह चुका हूँ कि जो प्रयोग, शिल्प, जिसकी बात साल-भर पहले भी ऐसी लगती थी कि इसपर बहुत ज़्यादा काम किया जा सकता है, इसमें बहुत दम है, अब मुझे लगने लगा है कि शिल्प-तन्त्र आदिकी बात सब झूठी है। इनके बारेमें हमें बात भी नहीं करनी चाहिए। मुझे नहीं लगता कि हम लोग जिस सीधे-सीधे अन्वेषणमें-से गुज़र रहे हैं वह अन्वेषण कोई गम्भीर बात नहीं दे पाता। ऐसा मुझे कहीं भी नहीं लगता है। इसके मूलमें-से ही बात पैदा होती है समकालीन बोधवाली और समय-बोधवाली। यह बात कहीं अलग नहीं हैं। एक संकेत मित्रवर राकेशजी ने किया था अनास्थाके सम्बन्धमें और कुछ उस विद्रोहके सम्बन्धमें जो कि ओढ़ा हुआ है या अनायास आ गया है या दूसरी चीज़ें हैं।....यह बात दूसरी है कि जहाँ दस आदमी हों और वहाँ एक आदमी अजीब ढंगके कपड़े पहनकर आ जाये तो वह बहुत ज़्यादा लोगोंका ध्यान हटा लेता है और ध्यान बँटा लिया करता है लेकिन मुझे यह लगता है कि हमारे जीवनमें-से जो बात आ रही है या जो विद्रोह या जो अनास्था या घुटन....जो वास्तवमें घुटन है....ये सारी चीज़ें कमरेमें बैठनेपर उमसकी तरह सताती हैं और उस उमसके कारण हम दरवाज़े खोल देना चाहते हैं। या कहीं बिलकुल ठीक जगह चले जाते हैं या कहीं हवाकी तलाश करने लगते हैं या कहीं ऊँचाईकी तलाश करते हैं तो मैं समझता हूँ कि यह सीधे-सीधे जीवनको जीना है। समकालीन शब्दके साथ-

रमेश बक्षी : 'ईमानदारी हर स्थितिमें कि प्रत्येक शर्त उससे ठीक-ठीक पूरी उतरे।'

नयी पीढ़ी : स्वर

दधनाथ सिह : 'मैं अभागा हूँ कि धूर्तताओंकी हिपोक्रेसीजके बीच जीना पड़ रहा है।'

साथ बहुत सारी बातें आती हैं। मैं समकालीनताको बंगाल या मध्य प्रदेश, कहीं भी क़ैद करके रखना नहीं चाहता। ऐसे बहुत सारे मित्र हैं जो ग्रिनविच विलेजमें हैं, जो पेरिसमें हैं, बहुत दूर हैं और उनसे संयोगसे कई बार मुलाक़ात हो जाती है और कई बार नहीं होती है—तो भी मैंने यह महसूस किया है कि जो हज़ारों मील मुझसे दूर रह रहा है वह व्यक्ति जब कहीं शामको मिलता है तो ऐसा कई बार लगने लगता है कि ऐसी कोई रिलेटिविटी है, सापेक्षता है, जो सारे मण्डलको एक साथ बाँधे हुए है। जहाँ इस तरह सोचना हम शुरू करते हैं तो मनमें बराबर यह लगने लगता है कि हम लोग, जिस समाजकी बात बार-बार की जाती थी, या जिस यथार्थकी बात बार-बार कही जाता थी—उससे कहीं अलग हो रहे हैं क्या? मैं यह कहना चाहता हूँ कि सिद्धान्त बनाकर या यह देखकर कि बहुत सारी औरतें घूँघट काढ़ती हैं इसलिए कोई आन्दोलन किया जाये, प्रयत्नशील होकर कोई काम किया जाये, ऐसी बात नहीं है। स्थिति यह है कि घूँघटमें किसीका दम घुट रहा है और वह घूँघट हटा दे। आन्दोलन अन्दरकी घुटनका है। अन्दर-ही-अन्दर जो चीज़ जमा हो गयी है वह उमड़कर बाहर आती है। साराका सारा क्रोध अनास्था और परम्पराके बोझके प्रति है, वह सब कहीं है, लगातार समाजकी परम्परासे दबते हुए, लगातार यह महसूस करते हुए कि शरीरका बढ़ने और खिलनेवाला हिस्सा दबाया जा रहा है, उससे आउट्र-ग्रो करनेकी कोशिश सारी पीढ़ीमें

है और वह अनायास प्रकट होती है। यहाँ बड़े-बड़े विभाजन नहीं करना चाहता कि वह कहानीमें है या नहीं, कवितामें है या नहीं, मैं एक पूरीकी पूरी पीढ़ीकी चर्चा करना चाहता हूँ। सौभाग्यसे गुजराती, बंगाली, मराठी, पंजाबी और दूसरी भाषाओंके भी बिलकुल नयी पीढ़ीके लोग ऐसे हैं जो मेरे बड़े निकट मित्र हैं। उनसे बात करते लगा है कि प्रान्त-विशेषकी चीज़ें कुछ ऐसी होती हैं कि पीढ़ीको व्यवहार थोड़ा-सा बदलना पड़ा है। उदाहरणके लिए बंगालकी भूखी पीढ़ी, उनका सारा आन्दोलन बुज़ुर्गोंके तिरस्कारके खिलाफ़ है। किसी चीज़को उछालनेकी बात उनके मनमें रही है क्योंकि कुरसियाँ और शब्द ही नहीं उछाले जाते, टोपियाँ और जूते भी उछाले जा सकते हैं। लेकिन सारा विरोध ऐसा है कि जैसे हम मिलकर बैठे हैं, परेशान हैं और विरोध-विद्रोह पैदा हुआ है। लेकिन यह देखना है कि वह कहाँ संयत है और असंयत है? जब भी कोट पहनें तब कोटकी बटन लगी हुई हो, यह मैनरिज़्म है लेकिन गरमी ज़्यादा हो तो कोटके बटन खोल देना मैनरिज़्मसे ज़्यादा ज़रूरतकी चीज है। इस तरह जो लोग जीवनके प्रति सीधा-सीधा दृष्टिकोण रखते हैं वे केवल दिखावेके लिए विद्रोह नहीं करते। दूधनाथके अनुसार अभागे लोग बहुत सारे इकट्ठे हो गये हैं जो कहीं घरकी दीवारसे दबे हुए हैं, कहीं छतसे दबे हुए हैं, बहुत सारी चीज़ोंसे समझौता करना पड़ता है, शहरपर शहर छोड़ना पड़ता है, नौकरीके बाद नौकरी छोड़नी पड़ती है। यह नहीं है कि यह सब शौक़िया या शग़लिया हो। इससे कोई इण्टाक्सीकेशन नहीं मिलता। जीवनको सहज होकर लेना समकालीन बोध और सापेक्षबोध-से देखना महत्त्वपूर्ण है। समकालीन लोगोंमें-से कुछने पहले भूमि हमारे सामने रखी और हमें दिखाई दिया कि हम यहाँसे आगे बढ़ सकते हैं लेकिन इसमें तान्त्रिकताको कहीं समय नहीं था। जीवनको सीधे-सीधे लेना और अनायास होकर देखना सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात बन जाती है। मैं समझता हूँ कि नयी कहानी-का जो उभरता हुआ स्वरूप आज है और जो भी नयी पीढ़ीके आठ-दस नाम हमारे सामने हैं वे लोग समकालीनताके साथ-साथ सापेक्ष होकर जी सकते हैं और हम लोग, जो अभागे भी हैं, वे लोग लगातार मेच्योर होते रहते हैं। जिनकी उम्र आज सत्ताइस साल एक दिन है, उनकी उम्र कल सत्ताइस साल दो दिन हो जायेगी। यह दुर्भाग्य जिन लोगोंके साथ चलता है वे लोग लगातार प्रगतिशील हैं। वे चाहे जितना कण्ट्रेडिक्शन अपने कहनेमें और सोचनेमें पैदा कर दें, यह भी हो सकता है कि पिछले साल जो बात कहें और उसके खिलाफ़ भी कह दें, तो यह प्रतिक्रिया भी प्रगतिवादी है और इससे एक ज़मीन टूटती जाती है और वे लगातार आगे बढ़ते जाते हैं। जो चीज अन्दरसे पैदा हुई है, जो अनायास है, अनायास रूपमें ग्रहण की गयी है, जिसे अनायास रूपमें अभिव्यक्त किया गया है, वहाँ किसी कोशिशकी ज़रूरत नहीं है। और जो सायास क़िस्मकी कहानियाँ हैं, वे बहुत पहले-की कहानियाँ हों या बाद की या कमर्शियल,

इनमें बसे किसीके बारेमें मुझे कुछ कहना नहीं है। दौरके निश्चित हो जानेसे हमारी सहजता निश्चित नहीं होती। मैं तो यह समझता हूँ कि कुछ लोगोंको प्रतिष्ठित हो जाना चाहिए ताकि हम लोग जो काम करते हैं वे लगातार अप्रतिष्ठित रहें, लगातार संघर्ष झेलें और लगातार सही और ईमानदार बातें कह सकें और सुननेवाले लोग हों तो ठीक और सुननेवाले न मिलें, तो भी कहानी लिखकर अपनी बातको ठीक-ठीक जगह पहुँचा सकेंगे।

● सूर्य पूर्वसे निकलता था और पूर्वसे ही निकलेगा...

विमल मित्र : दो सौ साल पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी यहाँ आयी थी और वह राजा बन गयी। मैं भी बन्धुओंसे मिलने आया था और आकर राजा (अध्यक्ष) बन गया। यहाँ जो कुछ बात होती रही, मैं सुनता रहा और कुछ-कुछ समझता भी रहा। हिन्दी मेरी वीक है और वंगलामें भी आज वक्ता नहीं हूँ। होता तो पॉलीटीशियन बन जाता। बंगलाकी मीटिंगोंमें भी मैं आबसेण्ट रहा हूँ। मैंने तो सोचा था कि यहाँ कोई नहीं पहचानेगा, पर लोगोंने पहचान लिया। राकेशजी, जोशीजी और बक्षीजीने जो कहा उसे समझा लेकिन झगड़ेमें मेरा कुछ पार्ट नहीं है। हम तो इस वर्ल्डमें स्वीट्ज़रलैण्ड बन गया। इसका एडवाण्टेज इन्ज्वाय करता हूँ। नया-पुरानाका झगड़ा चल रहा है। नया आदमी सोचता है कि राशनकी कमीमें ये बूढ़े आदमी ज़िन्दा क्यों है ? लेकिन जिस देशमें बूढ़े लोग कम होते हैं, टैगोरने कहा है, वहाँ विसडम भी कम ही होती है। वैदिक युगमें सूर्य पूर्वसे निकलता था और १९६५ में भी पूर्वसे ही निकलता है, १९८५ में भी पूर्वसे ही निकलेगा और पश्चिममें ही अस्त होगा। यह तो फ़ण्डामेण्टल बात है। मेरे पिता मुझे प्यार करते थे, मैं अपने लड़केको प्यार करता हूँ। प्यारका फ़ॉर्म बदल सकता है लेकिन वह रहेगा। हिन्दी लिटरेचरसे मुझे बहुत प्यार है। मेरी एक किताबका हिन्दीमें बुरा रिव्यू हो गया। मैं अच्छा लेखक नहीं हूँ तो बुरा रिव्यू होगा ही। मेरा विचार है कि हिन्दी तथा दूसरी प्रान्तीय भाषाओंकी रचनाओंको बंगाली भाषामें अनूदित करवाकर प्रकाशित करवाना चाहता हूँ ताकि बंगाली लोगोंको उसे पढ़नेका अवसर मिले।

● कहानीका उद्देश्य मनोरंजन क़त्तई नहीं है...

राजेन्द्र अवस्थी : समयकी बात बहुत महत्त्वपूर्ण है और कहानीकी दृष्टिसे मैं उसे और भी महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। होता यह है कि सुबहसे हम अपनी ज़िन्दगी शुरू करते हैं, सारे दिन वह चलती रहती है और शामको फिर एक नये तरीक़े-से ज़िन्दगी चलकर चलती ही जाती है। वह अनन्त है, कभी खतम नहीं होती। ज़िन्दगीका यों चलता रहना और कभी खतम न होना, मेरा खयाल है कि, कहानीका चलता रहना है क्योंकि कहानीका

सम्बन्ध ज़िन्दगीसे है। जबसे मैंने लिखना शुरू किया, तबसे जब मैं एक नज़र डालता हूँ तो मुझे लगता है कि अपने समयसे वह चली और चलती गयी है और बदलती हुई परिस्थितियोंको उसने अपनेमें समेटा और उनके साथ वह आगे बढ़ती है। इसलिए जब परम्पराकी बात की जाती है तो यह बात ध्यानमें रखना ज़रूरी है कि किस समयकी वह बात है और कितना आगे बढ़ी है। हम जब पुरानी पीढ़ीकी ओर देखते हैं और दोष देते हैं तो मेरा ख़याल है कि ग़लती करते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टिका सवाल था, उनकी दृष्टिमें वे अपने समयके साथ थे। मुश्किल उस समय हो जाती है जब वे अपनी उसी दृष्टिको बनाये रखते हैं और कहते हैं कि वे उसके साथ हैं। हमारा झगड़ा यहींसे शुरू होता है। यदि इस हठको छोड़ दें और इस बातको स्वीकार कर लें कि जिस समयमें वे चल रहे थे उस समयमें वे सही थे और जिस समयमें हम चल रहे हैं हम सही हैं तो किसी तरहके झगड़ेकी बात खड़ी नहीं होगी। आज़ादीके बाद, जैसा कि अनुभव किया है, मैंने अनुभव किया है, आपने भी अनुभव किया होगा, कि हमारी ज़िन्दगीमें एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। राजनैतिक परिवर्तनके साथ ही हम अपने-आपमें बदल गये हैं और हमें आज़ादी मिल गयी है और वह है हमें सब कुछ बोलनेकी, सब कुछ करनेकी, सब कुछ सहनेकी, देखने और परखनेकी। इस आज़ादीका फल यह हुआ है कि हमने अपने मूल्योंको भी समझा है और उन्हें बदला है और बदलकर स्थापित करनेकी कोशिश की है। इस दिशामें नयी पीढ़ीने बहुत बड़ा काम किया। उस समय तक जब नयी कहानी शुरू हुई, हम एक दासतासे छटपटा रहे थे, हम एक घिसे-पिटे आवेगसे छटपटा रहे थे, तो हमने उसे एक नयी दृष्टिमें डालनेकी कोशिश की और वह दृष्टि हमें देहातोंसे मिली, जिसे आंचलिक कहानीके नाम दिया गया था और वही आगे बढ़ती रही, इसके बाद नगर और महानगरोंकी ओर हम उतरे और इस सम्बन्धमें समस्याएँ बड़ी जटिल हुईं और उन जटिल समस्याओंमें-से न जाने कितनी और जटिल समस्याएँ पैदा हुईं किन्तु जटिल स्थितियोंमें गड़बड़ी कहीं ज़रूर हो गयी है ऐसा मुझे लगता है। और वह गड़बड़ी हुई है रेसकोर्सके मैदानमें। रेसकोर्सके मैदानमें गड़बड़ी की है जॉकीने। कहीं उसने बेईमानी की, कहीं घूस खायी, और घोड़ेको खींच दिया, आगे नहीं बढ़ पाया। दूसरी बेईमानी की उन लोगोंने जो परीक्षक थे, जिन्होंने ग़लत एंगिलसे केमरा रखा और फ़ोटो ली। और उसके बाद यह विवाद खड़ा हुआ। यदि यह दृष्टि न होती तो बड़ी ग़लती सामने नहीं आती। जॉकी और निरीक्षणकी बात आलोचकोंपर लागू होती है, जिन्होंने बड़ी अराजकतासे हिन्दीमें काम लिया। इसमें भी हमारी पुरानी पीढ़ियोंके आलोचक भी हमारे सामने थे और उन्होंने रस-सिद्धान्त और उसी तरहकी घिसी-पिटी समीक्षाओंसे साहित्यको परखना शुरू किया। कुछ नये आलोचक भी आये

और नये आलोचकोंने जो काम किया वह आपने सुबहकी मीटिंगमें देखा है। मेरे मित्र अवस्थीजी अपने रास्तेसे कट गये और उन्होंने कहा कि जो आगे आ रहे हैं वे ही हमारे इष्ट हैं और उन्हींसे हमारा काम चलेगा। दूसरे हमारे मित्र थे धनंजय वर्मा, जो अच्छा होता आलोचनामें छपा हुआ पूरा लेख पढ़ देते और हम लोगोंको बता देते कि यह लेख आलोचना-में छपा है तो हम लोगोंका समय बरबाद न होता। मुश्किल तब होती है जब नयी पीढ़ी ही या नयी पीढ़ीके साथ चलनेवाले आलोचक भी साथ बराबर नहीं दे पाते। प्रश्न मूल्यांकन-का होता है। मेरे सामने रहा है और हर आदमीके सामने रहता है कि हम जो कुछ लिखते हैं उसकी परख हमेशा होनी चाहिए। और इस परख करनेका काम लेखकका नहीं होता। जब इस परखका काम दूसरे नहीं करते तो लेखक स्वयं करने लगता है। और वह काम हमने किया है और उसका परिणाम यह हुआ कि हम सभी कहने लगे कि हमसे अच्छा कोई नहीं लिखता। अभी राकेशजी ने भी इस बातके प्रति हमारा ध्यान खींचा था। और यह बताया था कि एक कोई गड़बड़ी है। जब यह गोष्ठी हुई है और हम सब मिले हुए हैं तो हमारे सामने दो प्रश्न हैं इस समय। एक तो हमारे पाठकोंका है, जो इस समय हमारे साथ चलते हैं और दूसरा लेखकोंका है जो हमारे साथ चल रहे हैं और आगे भी जिनके साथ हमें चलना है। इन दोनों दृष्टियोंसे हमें चीज़ोंको सोचना है। अगर हम पाठकोंका खयाल करने लगें तो हमें फिर तिलस्मी और जासूसी उपन्यासोंकी ओर लौटना पड़ेगा—जिससे मनोरंजन हो सके। कुछ लोगोंने कहा था कि कहानीका उद्देश्य मनोरंजन है। मैं इसे नहीं मानता। कहानीका उद्देश्य मनोरंजन क़त्तई नहीं है। हम अपनी कहानी कहते हैं और उसे आपको पढ़ाकर आपकी कहानी उसमें बताना चाहते हैं। जब कहानी प्रकाशित होती है तो लेखक और पाठकके बीचमें समझौता होता है। और वह समझौता यह है कि जब आप उसे पढ़ें तो उसमें कहीं-न-कहीं आपकी या आपके पड़ोसकी छाप देखें। कहीं-न-कहीं उसके साथ आपका सम्बन्ध हो। जीवनके हर क्षणमें निराशा, कुण्ठा, बेबसी या आशा-उल्लास जितने भी क्षण आते हैं उनका समन्वय कहाँ हो सकता है उसको समन्वित करनेकी कोशिश करना है। ये सब बातें उन सब पाठकोंकी हैं जो कहानियाँ पढ़ते हैं। कहानी पढ़नेके लिए दो जाती है, रेलका सफ़र पार करनेके लिए नहीं। इसके लिए दूसरी पत्रिकाएँ हैं। कहानीमें हमने कुछ तत्त्व देनेकी कोशिश की है या बतानेकी कोशिश की है—कि आप पढ़ें, समझें कि जीवन कहाँ है और हम उसके साथ कहाँतक चल रहे हैं? समयके पहचाननेकी आवश्यकता कहानीमें बहुत ज़रूरी है और एक कहानीकारके लिए तो और भी ज़रूरी है। नगरों और महा-नगरोंकी उलझनसे जो समस्याएँ खड़ी हुई हैं उन समस्याओंको पहचाननेकी अपेक्षाएँ पाठकोंसे करने लगें कि वे भी हमारी

सहायता करें। आलोचकोंने सहायता नहीं की, हम आलोचक अपनी ओरसे खड़ा कर दें और हम जो चाहें वह कह दें—यह ग़लत है। वे जो सही समझें कहें। उससे हमें और हमारे साहित्यको एक नयी दिशा मिलेगी। जैसा कि राकेशजी ने कहा था, हम वैचारिक स्तरपर बातचीत इस गोष्ठीमें करेंगे, समयके साथ चलनेकी इच्छा हर कहानीकारमें रही है यह मैं कहना चाहता हूँ। यदि समयको छोड़कर चलनेके प्रयत्न करेंगे तो हमारी स्थिति कहानीके क्षेत्रमें अच्छी नहीं होगी। किसी-न-किसी तरहसे हर कहानीकार अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करनेकी कोशिश करता है। यह बात सही है कि यह संघर्ष हमारी पीढ़ीका है। आपसी मित्रोंका संघर्ष है जिसे हम आपसमें सुलझाकर हल निकाल सकते हैं। हम जो लिखते हैं वह पाठकोंके लिए कहाँतक ग्राह्य है, कहाँतक वे समझ रहे हैं यह हम देखें। हमने जो कुछ पिछले दस वर्षोंमें लिखा है उसपर हमें विचार करना चाहिए कि वह कितना गहरा है और हमें आगे क्या करना चाहिए क्योंकि जबतक हम यथार्थको अपनी पकड़में नहीं रखेंगे तबतक हम आगे नहीं चल सकगे और न ही साहित्यके साथ न्याय कर सकेंगे। यथार्थकी पकड़को हमें समूची नयी दृष्टिसे देखना है, जिस दृष्टिसे हमने अठारह साल पहले आज़ादीके समय साहित्यको देखा था। मेरा खयाल है कि मेरे साहित्यकार मित्र इसपर ग़ौर करेंगे।

• नये और पुरानेका संघर्ष सृजनशील साहित्यकारका संघर्ष है…

कमलेश्वर : यह गोष्ठी विशेष रूपसे एक विशिष्ट विषयको लेकर चली जिसमें समकालीन कथा-साहित्यमें बोध और दायित्वपर हमें विचार करना था। जहाँतक बातोंका प्रश्न है बातें बहुत उलझी हुई भी की जा सकती हैं, ऐसी भी की जा सकती हैं जो आपको निरन्तर गुदगुदाती रहें और कहीं न पहुँचायें। कुछ बातें ऐसी भी की जा सकती हैं कि आपको लगे कि बहुत गम्भीरतासे कही गयी हैं लेकिन उनका कोई तात्त्विक या व्यावहारिक हल न निकले, इसलिए समकालीन कथाकारके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपनेको, अपने सारे परिवेशमें खोजता हुआ ईमानदारीसे भरे हुए अन्वेषणको आपके सामने प्रस्तुत करे तो सम्भव है कि उसकी अच्छाइयों और उसकी बुराइयोंका एक हलका-सा स्वर बन सके। मैं केवल उस अन्वेषणके कोणसे बात आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। कथा-साहित्यके सम्बन्धमें बोधका और दायित्वका जो है उसके साथ समकालीन शब्द लगा हुआ था। यह समकालीन है क्या? यह समकालीन कौन-सी स्थिति है? ये खिड़कियाँ, ये दरवाज़े, हम और आप, यहाँ बैठे हुए लोग और इस समय बात-चीत करते हुए लोग ये केवल एक स्थिति मात्र हैं। समकालीनताका बोध तभी होता है जब लेखक अपने अन्दरकी सारी कुण्ठाओंको परखते हुए अपने समयके साथ तादात्म्य करनेकी कोशिश करता है।

वह जीवनके मूल्यको खोजता है। जीवनमें कौन-सी स्थितियाँ हैं जिनके प्रति वह प्रतिबद्ध हो सकता है, जिनके प्रति वह अपनी आस्था समर्पित कर सकता है?.....और ऐसी कौन-सी स्थितियाँ और मूल्य हैं जिन्हें वह अपनी आस्था नहीं दे सकता? लेखक केवल अच्छा कहनेका आदी नहीं होता वह बुरा भी कहता है। वह इस कोशिशमें रहता है कि वह अपने समयकी प्रामाणिक सच्चाईको या यथार्थको अधिक और अधिकांश रूपमें पेश करनेकी कोशिश कर सके। इसमें कहानियाँ कहाँतक सफल होती हैं यह एक दीगर बात है। समकालीन कथा-साहित्यके बारेमें जब हम लेखनकी बात उठाते हैं तो एक बहुत ही दुःखद स्थिति सामने आती है और वहयह है कि हमारा आलोचक-वर्ग बहुत सफ़ाईसे अपनेको एक दूसरी ही स्थितिमें रखकर अपनी कमज़ोरीको छिपा ले जाता है, जिसका आरोप वह अपने समयके कथा-कारपर करता है यें कि पीढ़ियाँ बनाते और विवाद खड़ा करते हैं, ये यश प्राप्त करनेके लिए अपनी स्थितिको मज़बूत बनानेकी कोशिश करते हैं। शायद उस आलोचकमें, जो नितान्त उपजीवी साहित्यिक प्राणी है, उसमें यह भावना हमेशा छिपी रहती है कि वह अपना गुट किस तरहसे बनाये। यह पीढ़ियोंका संघर्ष आलोचकोंकी उपज है और नये और पुरानेका संघर्ष सृजनशील साहित्य-कारकी उपज है। पीढ़ियोंका संघर्ष उस रूपमें नहीं.....यह सीधा-सीधा संघर्ष जीवनदृष्टिका और साहित्यिक मूल्योंका संघर्ष है। यह नये और पुरानेका संघर्ष केवल पीढ़ियोंका नहीं, जिसे हमारे आलोचक बड़ी आसानीसे पचासके बाद, साठके बाद, एकसठके बाद बाँट देते हैं। जैसे कुछ लेखकोंको परेशानी होती है कि वे जेबी आलोचक पैदा करते हैं। वे लेखक जिनकी कोई आस्था नहीं जिनके सामने अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं, जिनके सामने बदलती हुई परिस्थितियोंमें-से निःसृत होते हुए यथार्थका कोई स्वरूप नहीं, इस तरहके भटकते हुए लेखक प्लेटफ़ॉर्मपर खड़े आलोचकोंकी गाड़ियोंमें चढ़नेके लिए तैयार रहते हैं और आलोचक एक नितान्त तीसरे उपजीवीके रूपमें हमारे सामने आता है जिसका लेखक और पाठकके बीचमें किसी तरहके समकालीन बोधके स्तरपर कोई सम्बन्ध नहीं होता। आलोचक जिस रूपमें अपना कार्य करता है, यदि वह अपने समयकी सृजनात्मक शक्तियोंको नहीं समझ पाता, यदि वह अपने समयके यथार्थके साथ अपनेको सही चलता हुआ नहीं पाता, अपनेको समर्पित नहीं महसूस करता, तो कोई स्थिति नहीं है जो आवश्यक रूपसे उन कृतियोंकी या अपने समयकी सृजनात्मक कृतियोंकी समीक्षा करे ही। शुरूआत करनेमें बड़ा अच्छा लगता है। मैं भी एक कहानीकी शुरूआत यहाँसे कर सकता हूँ, इतनी क्षमता मुझमें भी है। अभी एक नारा दे सकता हूँ और उसके साथ पाँच लेखक और दो आलोचक भी मेरे साथ होंगे। इसलिए हम मिलके एक सम्मिलित प्रयास करें। एक अन्वेषणकी प्रक्रिया है, जिसमें-से आलोचक खतियानेकी कोशिश करते हैं और उस यथार्थके रूपको खण्डित

करते हैं जिस यथार्थके प्रति प्रतिबद्ध लेखक अपनेको उत्तरदायी महसूस करता है। मैं जब प्रतिबद्धताकी बात करता हूँ तो मेरे सामने निश्चित रूपसे एक प्रक्रिया आती है जो समाजसे सीधी जुड़ी हुई है। मैं सामाजिकतासे कतरानेका दम्भ नहीं करता। मैं उन कहानीकारोंकी तरह अपनी बात घुमा-फिराकर उसी छोरपर लानेकी कोशिश नहीं करता, जहाँ उनका कोई अर्थ नहीं निकलता। क्योंकि जो दबाव, जिस तरहकी पीढ़ियोंका दबाव, जिस तरहके संस्कारोंका दबाव, जिस तरहके आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और दूसरे तरहके संकट आजके लेखकके सामने उसके दिमाग़पर दबाव डालते हैं, उससे जो उत्पन्न होते हैं, उनसे उद्भूत जो हमारा अपना नितान्त भारतीय सन्दर्भ है—भारतीयसे मेरा मतलब केवल सीमाओंसे जुड़ा हुआ नहीं किसी एक प्रदेश, किसी एक गाँव, किसी एक क़स्बे, किसी एक शहरसे जुड़ा हुआ नहीं है,—भारतीयताका जो सन्दर्भ है, वह अपनेमें हमें उन स्थितियोंसे जोड़ता है जो हमें कहीं-न-कहीं कहानी लिखनेके लिए मजबूर करती हैं। कहानी लिखना कोई व्यावसायिक पेशा नहीं है। हमारे ऊपर भी आक्षेप लगाये जाते हैं कि व्यावसायिकता आजके लेखनमें बहुत है। व्यावसायिकताका वह पक्ष एक दूसरा हो सकता है। व्यवसायिकताका जो काम था उसे पत्रकारिताने बहुत अच्छे स्तरपर सँभाल लिया है और पत्रकारिताने बड़े समयसे स्तरीयता प्राप्त करके साहित्यको एक बहुत बड़े संकटसे मुक्त कर दिया। यह

रवीन्द्र कालिया : 'न घटना, न नाम, न बुनावट—किसीकी जरूरत नहीं...बस एक इण्टेन्स मोमेण्ट... ।'

अकथा...विकथा

ममता कालिया : 'कहानी मर रही है, उसका कहानीपन मर रहा है, हम एक शिल्पहीनता-की तरफ़ बढ़ रहे हैं।'

एक मुक्ति है जो हमें प्राप्त हुई है और इसलिए यह एक ऐसा समय है जब कि हम अपने साहित्यके मूल्यों और बदलती हुई परिस्थितियोंसे उद्भूत यथार्थको, अपने नितान्त भारतीय परिवेशको, अपने आन्तरिक मनको कुण्ठाओंको, सुख-दुःखको, आस्थाको, निराशाको, ईमानदारीसे और एक बहुत शुभ और प्रतिबद्ध तरीक़ेसे लिपिबद्ध कर सकते हैं। यह कौन-सी चीज़ है जो हमें इस बातके लिए मजबूर करती है कि हम मूल्योंके प्रति प्रतिबद्ध हों। हमारी पुरानी पीढ़ी या हमारे पुराने लेखक—शायद कहानीके प्रति उनका जो दृष्टिकोण था वह दृष्टिकोण उस तरहकी प्रतिबद्धताका नहीं था। भगवतीबाबूने कहा कि 'कहानी मनोरंजन करती है।' जैनेन्द्रजीका कहना है कि 'हम अपने-आपसे कुछ खोजते चलते हैं, उनमें-से कुछ मिल जाता है, बहुत अच्छी बात है, नहीं मिलता है बहुत अच्छी बात है।' लेकिन हम केवल दिमाग़ी ऐयाशीके लिए नहीं लिखते। हमारे साथ ज़िन्दगीमें करनेके लिए और काम थे। यह नितान्त ऐसे व्यक्तियोंकी पीढ़ी नहीं है जो सोचती हो कि उसके पास दूसरा कोई रास्ता नहीं था। तमाम हज़ार रास्ते थे। जिन रास्तोंपर कोई भी जा सकता था, वे सारे रास्ते खुले हुए थे। लेकिन इस तरफ़ जानेका इस पूरी पीढ़ीमें जितने भी समर्थ और वास्तविक जेन्युइन राइटर्स हैं, वे इस तरफ़ क्यों आते हैं—उसका एक मूल कारण है, क्योंकि वे समझते हैं कि उनकी अपने जीवनके प्रति प्रतिबद्धता है और जिन मूल्योंका संकट उनके लिए चाहे नैतिक रूपसे खड़ा हो या आध्यात्मिक रूपसे या आर्थिक रूपसे या सामाजिक रूपसे या वैयक्तिक रूपसे, वे इस संकटको झेलनेके लिए, भोगनेके लिए और उसमें-से एक मुक्तिका आभास पानेके लिए वे इस कोशिशमें लगे हुए हैं। यह एक बहुत बड़ी प्रक्रिया है, केवल इसे छोटी-छोटी बातोंमें या छोटे-छोटे या बड़े धीमेसे बातको स्तरपर उठाकर—आलोचकोंके द्वारा वह उठायी जाये या लेखकोंके द्वारा उठायी जाये—तो उस स्तरपर उठाकर हम उस सारी गम्भीरताको नष्ट करते हैं जिस गम्भीरतासे हम जीवनको लेते हैं और जीवनमें समाये हुए मूल्योंको लेते हैं। यह नहीं है कि जो अलगसे गुट बनेंगे उनके लिए पत्रिकाएँ अलगसे निकलेंगी और पत्रिकाओंसे पारिश्रमिक बहुत अधिक मिलेगा। यह इसका सवाल नहीं, यह सवाल जीवनका है कि हम आखिर दे क्या रहे हैं, हम पेश क्या करना चाहते हैं, क्यों करना चाहते हैं? और ऐसी स्थितिमें जो सबसे बड़ी बात सृजनशील लेखकके सामने आती है वह यह कि किसी विषयको उठाते समय वह सोचता है कि मैं इसे क्यों उठाता हूँ? क्यों लिख रहा हूँ, किस रूपमें लिखूँगा और आखिर इसका सारा सन्दर्भ क्या है .और इस सन्दर्भका अर्थ क्या है? ऐसा नहीं है कि उन्होंने एक अन्त बना लिया है और उस अन्तपर पहुँचकर कहानी खतम होगी। ये साँचे ही नयोंने तोड़े थे। नये साहित्यने उन साँचोंको ही तोड़नेकी कोशिश की थी। शुरूमें पहले उसने भाषाके स्तरपर तोड़ा था और उसके बाद उसीने उसको कथ्यके स्तरपर तोड़ा था। सबसे पहले

भाषाका जो बनावटी कवच चारों तरफ़ था उस कवचसे अपनेको मुक्त करनेके बादमें कहानीको नये तथ्यसे जोड़ा था। यह तथ्य हमारा नितान्त भारतीय सन्दर्भ था जिसके प्रति हमारी आस्थावान् दृष्टि थी। कहानियाँ दिमाग़ी विलासके लिए नहीं लिखी गयी हैं। अगर उससे किसीको नींद नहीं आती है तो डॉक्टर मौजूद हैं। हमें कोई अफ़सोस नहीं है कि आपने हमारी कहानी पढ़ी। जो संक्रमण हुआ है वह मूल्योंका संक्रमण है। इन बदली हुई परिस्थितियोंमें बहुत सारे हमारे कलाकारोंने कहानियाँ ग्रामांचलोंसे जो उठायीं उनके प्रति एक दृष्टि थी, वह शौक़ नहीं था। प्रेमचन्दकी कहानीपर-से भी इम्फ़सिस उठता जा रहा है। 'बड़े घरकी बेटी' की जगह 'क़फ़न' या 'पूसकी रात'का चर्चा होती है। कहना यह है कि जो यथार्थके प्रति एक दृष्टि अपनाता है, वह सार्थक रूपसे लिखना शुरू करता है। हम अपने समयका यथार्थ भोगते हैं। पुराने समयमें एक मोटे परदेके पारसे अपने पतिको बिदा देती हुई नारी और आज स्टेशनपर लिपस्टिक लगाये रूमाल हिलाकर बिदा देनेवाली लड़कीकी संवेदनामें कोई अन्तर नहीं है। यह लड़की नार्मल तरीक़ेसे सभी बातोंको सहती है। हमारे बीच भी जो पुरानी दृष्टिके लोग हैं वे इस बातको नहीं समझ पाते हैं कि स्थिति कैसे बदली है। समाज और सामाजिक परम्पराओंके प्रति बदलाव आया है और वह महत्त्वपूर्ण है। कहानी मनोरंजनके लिए ही अगर होती तो हम किसी सर्कसमें होते और आपका मनोरंजन करते। प्रतिबद्ध होनेकी हमारी मजबूरी है, नयी कहानी कोई सम्पूर्ण और टिकी हुई चीज़ नहीं है वह तो नयी होती हुई एक परम्पराका शुभारम्भ था। यह नहीं कि कमलेश्वर, रमेश बक्षी, राकेश, शरद जोशी, मन्नू भण्डारी और उषा प्रियंवदाकी कहानियाँ ही नयी हैं—नाम कोई भी हो सकते हैं। नये बोधके प्रति जो लगाव पैदा हुआ है वह नयी पीढ़ीमें भी दिखाई देता है—वह है प्रतिबद्धताके प्रति लगाव। जो अलग-अलग रेखाएँ खींचते हैं वे ग़लत हैं क्योंकि नये और सच्चे जो हैं वे हैं। महेन्द्र भल्ला, दूधनाथ सिंह, श्रीकान्त, पानू खोलिया, सुदर्शन चोपड़ा, प्रयाग शुक्ल, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, अनीता औलक आदि में बदली हुई स्थितियोंको देखा जा सकता है। कुण्ठा, अकेलापन, संत्रास, जो है ये सब सामाजिक स्थितियोंमें-से आये हैं। ये व्यक्तिगत तकलीफ़ें हैं, क्राइसिस हैं, ढोंग नहीं हैं। इस सारे संकटोंका केन्द्र-बिन्दु आधुनिक स्थितियाँ हैं। नयी कहानी प्रतिबद्ध लेखकके दृष्टिकोणसे लिखी गयी है जिन्होंने बदलते हुए मूल्योंको समझा है।

● जो सही-ग़लतका भेद नहीं कर पाता वह लेखक है···जो कर पाता है वह···

श्रीकान्त वर्मा : जो कुछ बातें कही गयी हैं उसपर पाँच मिनिटसे अधिक नहीं बोला जा सकता। कमलेश्वरकी गम्भीरतासे मैं सहम गया। मैं उस अर्थमें कहानीकार नहीं हूँ जिस

अर्थमें निर्मल वर्मा, राकेश और कमलेश्वर हैं। मैं शौक़के लिए लिखता हूँ। जब मजबूरी लगती है तो लिखता हूँ। मेरे मनमें उस तरहका चिन्तन नहीं चलता जैसा राकेशजीके मनमें चलता है। राकेशजीके ग़ुस्सेके बारेमें मैं सोचता रहा। बादमें मुझे लगा कि वह ग़ुस्सा सामाजिक दशाके प्रति ग़ुस्सा है। लेकिन साहित्यिक विवाद होते ही हैं। उनका कुछ सामाजिक उपयोग नहीं होता। कोई भी व्यक्ति क्रोध या दयाका पात्र नहीं होता—वह केवल पात्र होता है। कमलेश्वरने कहा जो प्रतिबद्ध कथाकार हैं, वे सच्चे अर्थोंमें कहानीकार हैं। इसपर कई विश्वास भी करते हैं। लेकिन इसके राजनीतिक अर्थ भी होते हैं। अच्छी और बुरी चीज़की करोड़ों क़िस्में हैं, उनमें-से किसी एकको चुनना सरल नहीं। लेखक संवेदनशील व्यक्ति होता है, वह इतनी जल्दी सही-ग़लतका भेद नहीं कर पाता। जो सही-ग़लतका भेद नहीं कर पाता वह लेखक है और जो भेद कर पाता है वह नेता है। नेताओंके लिए फ़तवे दे देना सरल है। प्रतिबद्धताका सवाल असाधारण है। वह साहित्यकी कसौटी नहीं बन सकता। प्रश्न यह है कि कौन क्या सवाल उठाता है। काफ़्काने इतने सवाल उठाये, उसे क्या उत्तर मिल गया? मिली केवल असफलता। बुद्धको ही लें। वे क्या तय कर पाये? संशय ही आदमीको असाधारण बनाता है। जिसके मनमें संशय उठता है वही असली लेखक है। जैनेन्द्रजीके बारेमें मुझे सहानुभूति हो गयी है। जैनेन्द्र हिन्दीके पहले लेखक हैं जिन्होंने व्यक्तिके मनमें उठनेवाले संशयको लिखा है। इसलिए वे पहले माडर्न और आधुनिक लेखक हैं। यह काम प्रेमचन्दने नहीं किया था इसलिए वे अलग हैं। समकालीन और आधुनिकका अन्तर मानकर चलना चाहिए। वाल्मीकिमें आधुनिक स्थितियाँ हैं और शेक्सपीयर भी उन्हींके कारण आज तक आधुनिक बने हुए हैं। शाश्वतता रस-सिद्धान्तसे बँधी हुई नहीं है। जो हर युगमें नया है वही शाश्वत हो सकता है। प्रेमचन्दजीकी दृष्टि आधुनिक नहीं थी। व्यक्तिका संघर्ष ही महत्त्वपूर्ण है। समकालीन दृष्टि नहीं, प्रवृत्ति है। जैनेन्द्रकी पुरानी कहानियाँ भी आधुनिक हैं लेकिन उनकी आजकी कहानी समकालीन नहीं है क्योंकि व्यक्ति समकालीन नहीं है, चालीस साल पुराना है।

• खींची हुई लकीर वर्टीकल है, हॉरीज़ेण्टल नहीं...

डॉ० देवीशंकर अवस्थी : यहाँ आलोचक और अध्यापक दोनों ही कण्डेम्ड किये जा रहे हैं। वह पहचान नहीं करता है तो यह कहा जायेगा कि वह आन्दोलनको जानता नहीं और पहचान करता है तो यह कहा जायेगा कि ग़लत काल-विभाजन कर रहा है। मैं तो चाहता था कि राकेश, शरद जोशी, या रमेश बक्षी बतलाते कि वे क्या सोचते हैं? कौन-सा यथार्थ है जिसे जीते हैं और उसके किस अंशके प्रति प्रतिबद्ध हैं और प्रतिबद्धता कहाँतक है? लेकिन वे नहीं बतला रहे हैं। आक्रोश किस बातपर है आखिर? मैं जैनेन्द्रके

ऐतिहासिक दायित्वको कैसे नकार सकता हूँ। मैंने जो लकीर खींची थी, वह वर्टीकल नहीं, हॉरिज़ेण्टल थी। मैंने रेखांकन किया था। आजके ही दो वक्ताओंको देख लीजिए। दोनों सहभोगी हैं लेकिन एक नाराज़ होता है और एक अपनी बात कहता जाता है। मैंने तो उभरते हुए स्वरको अण्डरलाइन किया था। अभी कहा गया कि नयी पीढ़ी पिछली पीढ़ीका एक्सटेन्शन है। आधुनिकताकी हिस्टोरिकल कैटेगरी होती है। हर बार उसका रूप अलग होता है और वह विकसित होती जाती है। व्यंग्यकार सबसे दुःखी प्राणी होता है तभी तो वह व्यंग्य कर सकता है। विडम्बनामें-से ही व्यंग्य उत्पन्न होता है। व्यावसायिकता और अव्यावसायिकताका निर्णय शरद जोशीके कथनके अनुसार नहीं हो सकता।

• ईमानदारी निबाहनेका अर्थ है : हम प्रतिबद्ध हैं…

दूधनाथ सिंह : मुझे लगा कि राकेशजीको कुछ दूसरी तरहकी ग़लतफ़हमी हो गयी है। उनके क्रोधमें वार्म्थ है और मैं उसे प्यार करता हूँ। उनका आक्रोश सहज और सुन्दर लगा। उनको दो शिकायतें हैं : एक कि छींटाकशी और चुटकुलेबाज़ीसे बात नहीं होती। लेकिन भाषणमें-से विवेचनका आधार खड़ा हो सकता है। यह मुश्किल लगता है क्योंकि सबका बोलनेका अपना ढंग होता है। उन्होंने एक और बात कही—अनास्थावाले शुतुर्मुर्ग़की तरह रेतमें सिर गाड़ लेते हैं। मैंने साठके बादकी लाईन नहीं खींची। मैंने खुद कह दिया था कि पीढ़ी शब्द बड़ा क्रूड है। सामाजिक परिस्थितिमें यदि बदलाव दिखाई पड़ता है तो जैसे कमलेश्वर सामाजिक प्रतिबद्धताकी बात करते हैं वैसो ही प्रतिबद्धताके बारेमें नये ढंगसे सोचनेका हमें यहाँ समय दिया जाये कि हम उसे आग्रहपूर्वक ईमानदारीसे कह सकें। प्रश्न शब्दोंका नहीं अन्दरकी ईमानदारीका है। मैं जिस सत्यको आस्था या विश्वासहीनताके साथ देखता हूँ तो इसका यह मतलब नहीं कि मैं पलायन करता हूँ। स्थितियाँ कुछ इस तरहसे बदल गयी हैं कि उसे अपने ढंगसे झेलने और कहनेकी हम ईमानदारी निभायें। जब ईमानदारी निभाते हैं तो इसका सीधा अर्थ है कि हम प्रतिबद्ध हैं। सारी स्थितियोंको विगलित करके नहीं देखा जा रहा है। परिस्थितियोंको देखने और उससे संघर्ष करनेकी स्थितिमें होना भी एक दुर्भाग्य है। यह भी मेरी प्रतिबद्धता है। हमारे सामने चीज़ें दूसरी तरहसे प्रतिबिम्बित होती हैं। मैं कहीं कोई विभाजन नहीं देखता। राकेशजीका जो आस्थावान् स्वर साहित्यमें है उसके प्रति मेरे मनमें आदर है। मैं अपनेको उनके आदरके प्रति अकेला पाता हूँ। हर व्यक्तिको, परिस्थितिको अपने ढंगसे देखनेका अधिकार है। अगर मेरी तरफ़से कोई ग़लतफ़हमी राकेशजीको हुई हो तो मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

जैनेन्द्र : मुझमें लिखास और बुलास कम जागती है लेकिन श्रीकान्तजीने जो अभियोग लगा दिया कि मैं मॉडर्न हूँ तो बोलना पड़ा। मैं आधुनिक हो नहीं सकता। जैनेन्द्रको जो कुछ जानता हूँ, वह कहूँगा। कभी-कभी पूछता हूँ जैनेन्द्रसे कि तुमने सिगरेट पी है, शराब पी है, तुम्हारा जीवन रंगारंग रहा है ? नहीं। बिल-कुल सपाट रहा है। तो ऐसे सपाट—जिसके जीवनमें सिगरेट-शराब नहीं है, उसे आप कैसे नहीं मानेंगे, वह आधुनिक नहीं है—बहुत बड़े अनुभूतिके क्षेत्रसे वह वंचित है। जीवनका भोग, जीवनकी अनुभूति, नये-नये जीवनके रस, विचित्र-विचित्र, विलक्षण-विलक्षण इत्यादिसे जो वंचित है ऐसा, जीवनबोधसे वंचित आदमी आधुनिक लेखक बन सकता है यह सम्भव नहीं। यदि मैं आधुनिक लेखक हूँ तो इसी शर्तपर हो सकता हूँ कि मैं पुरातन लेखक न रहूँ और पुरातन फिर उसी शर्तपर हो सकता हूँ कि आधुनिक न रहूँ। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि आधुनिक, नया, पुरातन—जिनके हाथोंमें ये शब्द हैं—जज लोग हैं, जैसा चाहें लगा दें, श्रीकान्त बाबू नया कह दें लेकिन इतना मैं कह सकता हूँ कि लेखक तो मैं बना। कमलेश्वरजी कहते थे हम समर्थ व्यक्ति थे, बहुत कुछ बन सकते थे, प्रतिबद्ध होकर लेखक बने। लेकिन मेरी हालत तो बिलकुल उलटी है, प्रतिबद्ध लेखक बन नहीं सका। कलकत्तेमें पन्द्रह रुपयेकी नौकरीके लिए भटक रहा था। मेरे पास कोई रास्ता ही नहीं था। लेखक बन गया सो भी प्रतिबद्धताके नाते नहीं। रपट पड़े सो हर गंगा ! यह बात हो गयी। चलते-चलते कुछ था नहीं, लिख गया, छप गया और लेखक बन गया—शुद्ध असमर्थताके कारण। तो आधुनिक लेखक जिसे ज्ञानवान् होना चाहिए, समर्थ और सक्षम होना चाहिए वह मैं कैसे हो सकता हूँ ! हो ही नहीं सकता। अब मैं लिख गया, जिसके बारेमें चर्चा होती है तो कहानी लिखनेके सम्बन्धमें ही कुछ प्रश्न पैदा होते हैं। यह जीवनको झेलना-भोगना अनुभव करना यह सब प्रत्यक्ष था, मेरे जीवनमें जैनेन्द्रके जीवनमें—बहुत कुछ दिखाई नहीं देता। फिर ऐसा होनेमें कैसे आया कि '३०-'३५ के बीच जो कहानियाँ लिखी गयीं और आज '६५ में आज भी पढ़ी जा सकती हैं और मॉडर्न हो सकती हैं ? '३०-'३५ में लिखा हुआ आधुनिक हो सकता है यानी '६५ में पठनीय हो सकता है लेकिन जो '६५ में लिखा है वह '३०-'३५ से भी पुराना है। मालूम नहीं हो सकता है कुछ भी। हो सकता है यही सन् '९५ में अच्छी हो जाये। समकालीनता नामकी चीज़पर-से मेरा भरोसा उठता जा रहा है। यह समकालीन शब्द उस चीज़को जो कालसे भिन्न नहीं है, कालातीत है, काल-के कटघरेमें बन्द करके देखना है। और मैं समझता हूँ कि साहित्यके पठन-पाठनके लिए शायद यह आवश्यक हो जाता है कि जो आजकल एक चल पड़ा है तरीक़ा, पश्चिमसे आया है, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखा जाये, सब चीज़को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखा जाये। कोई-सी भी चीज बचे नहीं तो

साहित्यको भी देखा जाये। शुक्लजी हुए तो उन्होंने काल-विभाजन कर दिया और कालके नाम भी दे दिये। चीज़को बाँट-बाँटकर देखनेमें सुविधा होती है। यह तरीक़ा चल पड़ा है। लेकिन यह जो बुद्धिको समझना और समझाना है, वह पद्धतिकी दृष्टिसे तो ठीक है लेकिन जिसको बाँटा जाता है वह मेरे खयालमें अखण्ड है। लेकिन अखण्डको खण्डित मानकर आपसमें लड़ाई करने लगें तो इसमें खण्डत्वकी प्रतिष्ठा है और अखण्ड तत्त्वकी अवज्ञा है। गोष्ठीके प्रति संशय मेरे मनमें इसलिए था कि इससे लेखनमें कोई तीव्रता नहीं आयेगी, गरमा-गरमी आयेगी, वातावरण बनेगा, शायद वह टेढ़े-सीधेसे लेखनमें भी काम आ जाये लेकिन कुछ उपयोगी नहीं होगा। कुछ भाई हैं जिन्होंने कहा कि निराशा है। मुझे तो सच कहता हूँ, मज़ा आया। निराशाका प्रश्न ही नहीं ऐसा! लोग तबीयत भरके बोले। ऐसा अवसर पैदा करना जिससे तबीयत भरके बोलनेका अवसर मिले तो खटास वग़ैरह दूर हो जाती है। मुझे तो मज़ा आया कि राजनीतिक मंचपर जो जीवन और जागृति दिखाई देती है, मुझको वैसा ही यहाँ भी लगा। मंच पोलिटिक्सकी ही चीज़ नहीं, लोगोंको प्रकाश मिलेगा कि वह साहित्यकी भी चीज़ है। और साहित्यकार कम गरमागरम नहीं बोल सकते हैं, काफ़ी तीखा बोल सकते हैं। उनमें भी अगर प्रकाश है तो हम लोगोंमें भी कुछ हैं—जिनके पास प्रकाश है, प्रतिबद्धता है, मालूम नहीं किस बातके प्रति प्रतिबद्धता? लेकिन कुछ है जिसके प्रति प्रतिबद्धता है। मैं समझता हूँ अपने स्वरके प्रति प्रतिबद्धता हो सकती है, किसी समाज या नामकी धारणा हो उसके प्रति प्रतिबद्धता हो सकती है। लेकिन जो मुक्केसे दिखाई जा सके ऐसी प्रतिबद्धता। जब राजनीतिक क्षेत्रमें बोलबाला हो तो यह खुशीकी बात है कि वह साहित्यके क्षेत्रमें भी है। और शायद कुछ चुनौती आगे-पीछे मिल सके। ये जो संस्कार साहित्यमें ले आये हैं वे, सम्भव है, राजनीतिक ट्रेनिंगसे ले आये हों। जैसे तुलसीदासजी हैं, शादी तो उनकी हुई थी, लेकिन उनकी गृहस्थी कैसे चली, कबतक चली, पता नहीं। मान लीजिए कि गृहस्थी ऐसे चलती कि एक शादी होती, फिर टूटती, फिर दूसरी होती, फिर तीसरी होती, चौथी भी हो जाती तो कितना गहन और सम्पन्न अनुभव उनको हो जाता। और मैं निश्चित कह सकता हूँ कि अगर ऐसा तुलसीदासजीके जीवनमें घटित हुआ होता तो सीता उनके लिए माता नहीं हो सकती थीं। सीता स्त्री भी नहीं हो सकती थीं, वह मादा हो जातीं। आजकलकी यथार्थ दृष्टि है, यथार्थ है, स्त्री मादा बन जाती है, मैं इसको अयथार्थ और असत्य मानता हूँ। जहाँ स्त्री देवी होनेकी तरफ़ बढ़े तो मानता हूँ कि दृष्टिकी सत्यता है, यथार्थता भी है। लेकिन जहाँ स्त्री स्त्री होनेसे घटते-घटते मादा हो जाये; सो कहेंगे बढ़ते-बढ़ते। ऐसे भी लोग हैं, कहेंगे, हमारे मनमें कोई रोमांस नहीं है, यह यथार्थ है और स्त्री मादा है। यह यथार्थ उनको प्राप्त होता तो रामायण प्राप्त नहीं होती। अत्यन्त अनुभवसिद्ध हो गये होते। कविके

रूपमें हमने कभी याद नहीं किया होता। जिनकी अनुभूति और अनुभव अत्यन्त व्यापक हैं''''मुझे याद आ रही है एक मित्रकी। ख़ैरियत है कि वे जीवित नहीं हैं, मर चुके। और यह कोई २० वर्षकी बात है। वह आये और, मैं समझता हूँ, ३५ वर्षकी अवस्थामें उनका देहान्त हो गया, मेरा उनका कोई निकटका परिचय नहीं था, बातों-बातोंमें हो बोले—आजका नम्बर २१८। मालूम हुआ कि उनके जीवनमें घनिष्ठ सम्पर्क उनको प्राप्त होते रहे हैं और २१८वाँ का नम्बर है जो कल रात प्राप्त हुआ। उस वर्ष पूरे तीस वर्षके नहीं रहे होंगे। आप समझिए कि कितना गहन भावबोध होगा, २१८ नम्बर प्राप्त हो गया। २८ वर्षकी अवस्थामें अगर वह कहीं लिखने बैठते तो बताइए, कौन आधुनिक लेखक उनके सामने ठहर सकता! लेकिन मैं यह मानता हूँ कि जीवनकी प्रतिबद्धता, जीवनके भोगनेकी प्रतिबद्धता उनमें थी कि वे लेखक हो ही नहीं सकते थे। जीवनको भोगेंगे तो लिखनेका समय कब पायेंगे? मैं यह मानता हूँ कि शब्द तो ठीक हैं बहुत-बहुत आते हैं लेकिन अपनी आपबीतीमें से थोड़ा-सा सोचकर यह नहीं कि लोगोंपर कहना है, लोगोंसे कहना है अपने भीतर जो कुछ बीता है उसको टटोलकर कहना है, तो अगर उस रूपमें सोचकर कहें तो यह जो अनुभवकी पूँजी है, भोगकी पूँजी है यह आख़िर कितनी बढ़ेगी? 'स्व' तक ही सीमित रहनेवाली है। 'स्व' तक सीमित रहनेवाली जो चीज़ है उसके आधारपर कुछ साहित्य पैदा होगा, बड़ा साहित्य, महान् साहित्य पैदा होगा; व्यापक साहित्य पैदा होगा, यह सोचनेकी बात है। स्वत्वको लेकर और 'स्व' को लेकर अहम्-भुक्तको लेकर अपनी आपबीतीको लेकर जो हम पैदा करेंगे वह हमारे अहंकारका ही तो क्षेपण होगा। इसलिए हमारे एक भाईने कहा कि विज्ञान-कहानी जो जैनेन्द्रकी है, उसका आदमी जो है, वह झूठा है। मुझे तो यह भी समझमें नहीं आता कि मेरी किसी भी कहानीका आदमी सच्चा कैसे है? मेरी कोई भी कहानी ऐसी नहीं है जिसका आदमी गढ़ा हुआ नहीं है। यह कैसी यथार्थ-दृष्टि है कि एक तो उनको झूठा दिख गया, बाक़ी सब सही। उपन्यास और कहानी झूठके माध्यमका उपयोग करके सत्यकी अनुभूतिको दूसरों तक पहुँचाती है। माध्यम कभी सत्य होता ही नहीं है। इस बातको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जब-जब हम माध्यमको यानी कपड़ोंको हम इतना सच बनायेंगे तो हम खुद झूठे बन जायेंगे। बहुत-से डैण्डी, जिनको कहते हैं छलिया लोग, इतना ज़्यादा कपड़ाको सच बनाते हैं कि खुद झूठे बन जाते हैं तो यह जो हम लोगोंका आग्रह बन गया है कि जो माध्यम है, जिस उपकरणके द्वारा हम सच्ची अनुभूति पाठक तक पहुँचाना चाहते हैं उस उपकरणको ही सच्चा बना देंगे, तो जैसा कि आजकल चलता है कि डिब्बा बहुत सुन्दर है और अन्दर जैसा भी जो भी माल है, चल रहा है। आजकलका यह जो सिगरेट है इसमें यह है कि पैकिंग खूब सुन्दर आनी चाहिए और किताबका जो जैकेट है वह यदि रंग-विरंगा हो तो फिर

भीतर जो कुछ है सो चलेगा। यह जो चीज़ें चल गयी हैं वे साहित्यके लिए बेहद खतरनाक हैं। हम अपनेमें अपनेको पूँजी मानकर सीधे चल पड़ते हैं तो हर दूसरा जो है हमारे लिए प्रयोजनीय व्यक्ति बन जाता है, हमारा माध्यम बन जाता है, हमारा शिकार बन जाता है और हमारे पंजे उस शिकारको दबोचनेके लिए खुल जाते हैं। अपनी बातको दूसरेके मनपर उतार ही द और साबित कर दें या प्रतिपादित कर दें और वाहवाही लूट ले जायें। इसके लिए दुनिया खुली पड़ी है। यह साहित्य ही इस प्रकारकी चीज़ होनी चाहिए थी कि जहाँ इस प्रकारकी प्रवृत्ति है अहन्ताकी, जहाँपर एक आदमी अपनेको दूसरेपर आरोपित करता है उस प्रवृत्तिके लिए सारी दुनिया खुली है, मार्केट खुला है, राजनीति खुली है, मंच खुला है, साहित्यके क्षेत्रमें भी यदि वह आये तो फिर कौन-सी दुनिया बच जायेगी जहाँसे यह बवाल दूर हो सकेगा। अनुभूति और भोगकी बात तो ठीक है लेकिन सच्चा भोग जिसको कि मैं कह चुका हूँ कि मैं मॉडर्न हो नहीं सकता क्योंकि मॉडर्न होनेके लिए अन-मॉडर्न बनना पड़ता हैं। अन-मॉडर्नके कटघरेसे निकलनेके लिए मॉडर्नके कटघरेमें आऊँ यह मुझसे नहीं हो सकता। अबतक तो मैं यह मानता रहा या अब भी मानता हूँ कि जो मैंने लिखा, यानी जैनेन्द्रने लिखा, जैनेन्द्रकी पीढ़ीने नहीं लिखा—जैनेन्द्रके बराबर हम उम्रका दूसरा कोई आदमी हो तो वह कोई जीवनदृष्टिसे, दूसरे तरीक़ेसे, दूसरे ढंगसे, दूसरेके शिल्पसे, क्यों नहीं लिख सकता। यह क्या क़सूर है उसकी, उम्र हमारी और उसकी यानी दोनोंकी बराबर है तो सब कुछ एक हो जायेगा? पीढ़ी भी लिखती है यह मेरी समझमें नहीं आता। जब हमारे दो भाई 'क' और 'ख' आपसमें मिलते होंगे, आपके सामने नहीं, तो मालूम होता है दोनोंमें जीवन-दृष्टिका भोग है, दोनोंमें जीवनबोधका भेद है सब कुछ अलग-अलग है लेकिन सामने जब आ जायेंगे तो वे दोनों एक युग्मके तौरपर हैं। 'स्व'को खोकर गुट बनाकर जब आते हैं तो मैं मानता हूँ कि दिग्दर्शन मिलता है। राजनीतिमें व्यक्तिको नहीं स्वीकार किया जाता, दलको स्वीकार किया जाता है। राजनीति अपनी जगहपर ग़लत नहीं है क्योंकि व्यक्ति कर क्या लेगा? दल बाँधके आयेगा तो दबाव डाल देगा। दलको स्वीकार किया जाता है लेकिन दल कभी लिखता ही नहीं। गुट कभी नहीं लिखता है। पीढ़ी कभी नहीं लिखती है, पीढ़ीके नामपर जब आदमी सामने आता है तो लगता है कि अपने बलबूते क्यों नहीं आना चाहता है? इतने हीनभावकी क्या आवश्यकता है? पीढ़ीकी ओट लेकर यदि मैं सामने आऊँ तो क्या मैं खुद सामने नहीं आ सकता हूँ अपने नामपर? ऐसा लगता है कि 'स्व' को खोकर गुटको पानेमें क्या सचमुच कोई लाभ है? आत्मलाभ है या साहित्यिक लाभ है इसमें? इसलिए इस प्रकारकी जो भाषा है, वह समूहवाचक होती है, समुदायवाचक होती है—जो 'मैं'को एकाएक अधिकार दे देती है कि हम। मुझे मालूम नहीं कि हम कैसे

लिखते हैं ? दो आदमी हाथ बाँधके लिखेंगे तो कैसे लिखेंगे। 'हम' कभी लिखता ही नहीं, सदा 'मैं' लिखता है। और 'मैं' लिखनेको 'हम' के नामपर ज्वायण्ट स्टाक कम्पनीके रूपमें लिखे हुए को जो पखत है उसमें-से निकालती है, शेषमें लिखनेवाला जो है वह व्यक्ति होता है। इसलिए, व्यक्तिसे तोड़कर, व्यक्तिके सन्दर्भसे तोड़कर उससे जोड़ देना एक साहित्यकी प्राप्ति है। मैं लिखता हूँ और व्याख्या करता हूँ। कहानी लिखी तो कहानीने मुझको कहा, लेकिन कहानीने मुझको कहासे सन्तुष्ट न होकर मैं कुछ और कहता हूँ कि कहानीने क्या कहा, यह तो व्याख्या है। इसकी आवश्यकता क्यों पड़ती है ? मैं खुद समझना चाहता हूँ कि वह क्या चीज़ है कि कहानी लिखनेके बाद लोगोंको जतलाना कि कहानीमें क्या-क्या खूबियाँ हैं, क्या-क्या अर्थ हैं, यह आवश्यकता क्यों पड़ती है ? मैं कहानी लिखता हूँ लेकिन इस ढंगकी कहानी लिखना मेरे लिए कठिन होगा जहाँपर पत्नीके सौन्दर्यका प्रदर्शनकार और विज्ञापनकार कोई पति हो तो उसको मैं चित्रणमें नहीं ला सकता हूँ। लेकिन जब पति ही ऐसा हो कि अपनी पत्नीके सौन्दर्यका प्रदर्शनकार बनता हो विज्ञापनकार बनता हो तो प्रश्न उठता है कि फिर इस पत्नी और पतिका जो सम्बन्ध है इसमें आत्मीयताका आधार शायद कम है। एक सीधी-सी चीज़ है कि साहित्यिकताका आधार हो सकता है लेकिन उससे भी आगे एक चीज़ है कि दूसरा भी आधार हो सकता है, नपुंसकताका आधार हो सकता है। जब हम अपनी ही रचनाको, जिसके साथ हमारा अत्यन्त घनिष्ट निजी और आत्मीय सम्बन्ध है, रचनाके रूपमें नहीं रहने देते हैं बल्कि विज्ञापित करते हैं, सपोर्ट करते हैं, डिफ़ेन्स करते हैं, संगठन करते हैं तो हमारी और हमारी रचनाका सम्बन्ध सन्दिग्ध तो नहीं है ? नपुंसकता है या व्यावसायिकता है, कोई सम्बन्ध है तो ज़रूर। यह मैं निश्चित नहीं कर सकता क्योंकि मैं जज तो नहीं, यह ज़रूर मालूम होता है, वह घनिष्ट आत्मीयताका सम्बन्ध है, उसमें अन्तर ज़रूर है, उसमें कुछ कमी रही है। अत्यन्त संलग्नताका सम्बन्ध। मैं यह मानता हूँ कि लेखक अपनी रचनाके बारेमें कुछ संकोची रहे, नम्र रहे, वहाँतक तो बात समझमें आती है। मैं मॉडर्निटीकी बात तो नहीं जानता हूँ लेकिन यह जो पत्नीत्व और पतित्वकी संस्था है। उसमें भी अधिकांश यही रहता है। मोडर्निज़्मकी बात मैं नहीं जानता हूँ लेकिन मुझे सर्टिफ़िकेट दिया गया है। लेकिन मैं मानता हूँ कि अगर ऐसा होता होगा तो निश्चय है कि उसके मूलमें पति-पत्नीकी जो पवित्रता है उसमें कमी आ गयी है। मैं फिर इस बातको ज़ोरसे कहना चाहता हूँ कि वह यथार्थता जो कि निकटकी आँखोंसे देखी जाती है और जिसमें सारा सौन्दर्य समाप्त हो जाता है और जहाँपर कि स्त्री-पुरुष नर-मादा बन जाते हैं, स्त्री-पुरुष नहीं रहते जहाँपर आवरण रहता नहीं, ऐसा यदि कहीं है तो आप कभी मत मानिए कि इसके पीछे कुण्ठाहीन अथवा ग्रन्थिमुक्त मनःस्थिति है। ऐसा हो नहीं सकता। जहाँपर

कि स्त्रीको मादा रूपमें देखा और दिखाया जाता है निश्चित है कि वहाँ ग्रन्थिग्रस्तता है। कुण्ठाग्रस्तता। कुण्ठामें लिप्त है, व्यक्ति तब ऐसा कर रहा है। इसलिए यथार्थका ये जो वाद है अत्यन्त भयंकर चीज़ है। राजनीतिक चीज़ है। राजनीतिमें अच्छी चीज़ है लेकिन आवश्यक है कि हम सत्य या सुन्दरको रहने देना चाहते हैं तो अन्तर भी रखें। अन्तर बल्कि पैदा करें। मेरी कहानियाँ 'विज्ञान' आदि हैं, इसमें मैंने यही कहा है कि प्रेम, विश्वासपूर्ण प्रेम, विश्वस्त प्रेम इच्छासे दूरी पैदा करता है। हमारे मॉडर्न भाई—हमारे कमलेश्वरजी बहुत मॉडर्न हैं—इसको नहीं समझ सकते। लेकिन मॉडर्निज़्म अगर बढ़ेगा तो इसको समझेगा। इन्होंने कहा कि माता-पिताने दो लोगोंको अन्दर दरवाज़ोंमें बन्द कर दिया और बाहर निकले तो उन्होंने कहा कि भाई-बहन हैं। इनको ऐसा मालूम होता है कि····वाह-वाह इनको मौक़ा नहीं मिला। ये क्या गड़बड़ है बाहरसे दरवाजा बन्द है। अरे, कमलेश्वरकी आँखोंसे देखो, हो ही नहीं सकता। मैं कहता हूँ कि कमलेश्वरकी आँखें कच्ची हैं, कमज़ोर हैं। अगर कमलेश्वरके जीवनमें सच्चा प्रेम आया होगा तो मद्यवाला प्रेम नहीं। मैं मानता हूँ, उसमें उस प्रेममें ही दूरी जान-बूझकर इच्छापूर्वक पैदा की होगी। आप इसको रोमांसके नामपर छोड़ दें, क्या कर दें, कह दें कि लव है लेकिन मैं कहता हूँ कि इसी सत्यपर सारी इनसानियत और संस्कृति टिकी हुई है। साहित्य किसी सत्यकी प्रतिष्ठा करता है। आप भोगके नामपर भोगलिप्तताको यथार्थ दृष्टि कहना चाहते हैं, यह अत्यन्त यथार्थ सीमित स्वरत दृष्टि है, वह जो कि इसको यथार्थ कहते हैं। मुझमें जो है यथार्थ और रहनेवाला है यथार्थ, उसका नाम सत्य यथार्थ है और सत्य हमेशा गवेषणाकी, सन्धानकी चीज़ रहती है। कहानियोंके बारेमें दावेदारी और मुक्केबाज़ी कुछ कम हो तो थोड़ा टटोल शुरू हो। जैनेन्द्रको आप जैनेन्द्रके नामपर छोड़ दीजिए। छोड़ दीजिए—यानी उस पीढ़ीको बदनाम न कीजिए। जैनेन्द्रकी बदनामी और श्रेय पीढ़ीको क्यों मिले? बदनामी है, मुझे दे दीजिए। श्रेय है तो मुझे दे दीजिए, मैं उसे पीढ़ीके साथमें नहीं बाँटना चाहता हूँ। मैं यह मानता हूँ कि मेरे ज़मानेमें लोग लिखते थे और सब अपने-अपने तरीक़ेसे लिखते थे, अपना-अपना तरीक़ा आदमीसे छूटता ही नहीं है। यह पीढ़ीवाला जो तरीक़ा है वह मालूम होता है कि अपना-अपना तरीक़ा शायद आता नहीं है। मैं तो केवल इसलिए आया कि मुझसे बिना पूछे-ताछे एक भयंकर अक्षम्य अभियोग लगा दिया गया। एक श्रीकान्तकी जगह सौ श्रीकान्त आ जायें, लोग भरोसा नहीं करेंगे कि मैं मॉडर्न हूँ। अगर साठ वर्षका आदमी मॉडर्न हो सकता है तो सत्ताइस वर्षका आदमी झक मारेगा। साहित्यके नाम जीवनदृष्टि होनी चाहिए लेकिन वह तो दशकोंमें बँट रहा है। वर्माजीने कहा, इतिहास सतत प्रवाह है तो होता होगा इतिहास। इतिहासकी ऐसी-तैसी। हम जो कहते हैं वह तो दशकोंमें बँटेगा और दशकोंके बाद मॉडर्निज़्म जो है वह पाँच-पाँच वर्षोंमें बँट जायेगा। हर पाँच

वर्षके बाद उनकी दृष्टि बदलेगी, बदलनी पड़ेगी क्योंकि पाँच वर्ष हो चुके। आज पैंसठ हैं, सत्तरपर बदलनी पड़ेगी। अब जो तीससे पैंतीस वर्षके आ जायेंगे और वह कहेंगे कि जीवनदृष्टि इतनी जल्दी नहीं बदलती। पाँच-दस वर्षवाला तरीक़ा कुछ लाभका नहीं है। यह मिलाता नहीं है हमको बाँध देता है। मैं तो केवल अभियुक्तके नामपर यहाँ आया कि यह अभियोग सच्चा नहीं है।

० दायित्वका श्रीगणेश—सहभोक्ताके रूपमें···

मोहन राकेश : मैंने शब्द 'अन्वेषण' का उपयोग किया था वह जैनेन्द्रजी तक आते-जाते 'टटोल' हो गया। मगर इस बातकी मुझे ख़ुशी है कि शब्द बदल जानेपर भी, उस बातपर कि वस्तुत: हम अपनी जीवनदृष्टि और अपना समग्र समझ सकते हैं—शास्त्रीय शब्दावलीमें इन सब बातोंको समझाया जाना ज़रूरी नहीं। जैनेन्द्रजीको यह सफ़ाई नहीं देनी थी क्योंकि अभियोग लगानेवाला व्यक्ति अकेला ही है और सब उससे सहमत नहीं। नयी पीढ़ीके लोगोंपर जो समयबोधकी बात, दायित्वकी बात, सामाजिकताकी बात, चाहे किसी राजनीतिक बात या दलबन्दीकी बात करते हैं और इसी बीच जैनेन्द्रजी ने नर और मादाकी भूख लेखक और उसके लेखनसे जोड़ते हुए कहीं नपुंसकत्वकी बात और उसके साथ व्यवसायिकताकी बात की, वह शायद कहीं एक ही प्रतीक है नर और मादाके साथ होनेका, जो जैनेन्द्रजीके मनमें बार-बार आता और सारे साहित्यके दृष्टिकोणको निर्धारित करता है। मुझे इस बातका भी अफ़सोस नहीं है, बल्कि ख़ुशी है कि जिस तरह पहली पंक्तिमें बैठकर बच्चे दूसरेपर कीचड़ उछाला करते हैं और फ़ब्तियाँ कसते रहते हैं यह कार्य हमारे अग्रज-साहित्यकार करना अपना फ़र्ज़ समझते हैं। लेकिन जब बोल रहे थे तो हमने ऐसा नहीं किया। जैनेन्द्रजीको दो बातें आक्रान्त किये हैं : एक जैनेन्द्र और दूसरे भोग। नयी पीढ़ीके लेखनके सम्बन्धमें उन्होंने बार-बार नर-मादाके भोगकी बात उठायी। उससे हमें एक बात स्पष्ट लगी, नयी पीढ़ीकी रचनाएँ वे पढ़ते नहीं। नवलेखन क्या है? आजकी कहानी क्या है? आज क्या लिखा जा रहा है? किन सम्बन्धोंका निर्वाह किया जा रहा है? इस सम्बन्धमें वे स्वयं कुछ सोचकर कहानियाँ लिख लेते हैं, पढ़ लेते हैं और पढ़कर समझते हैं कि आज यह लिखा जा रहा है और उसी दृष्टिसे उनकी आलोचना करने लगते हैं। पर नर और मादाके सम्बन्धोंको लेकर स्त्री और पुरुषके सम्बन्धके अयथार्थको लेकर स्त्री और पुरुषके सम्बन्धकी पवित्रताको किसी और धरातलपर ले जाकर इस तरहकी कहानियोंके कुछ अगर उदाहरण हमें दिये होते तो, अगर नये कहानीकारोंकी कुछ रचनाओंका हवाला दिया होता, कुछ ऐसे संकेत किये होते, कुछ ऐसी रचनाओंका परिचय दिया होता, जो नया कहानीकार जब जैनेन्द्रजीकी बात करता है तो कहानी-

का हवाला देकर करता है, उसने उन्हें पढ़ा है। अन्वेषणकी प्रक्रियामें बातका कोई अन्तिम निर्णय नहीं कि जो हम कर रहे हैं वही सच है। विचारोंका आदान-प्रदान किसलिए है। अभियोग हमपर लगाये गये हैं। मुक्का हिलानेकी बात हमारी ओरसे कही गयी लेकिन जिस व्यक्तिने मुक्का हिलाया है उसे आपने देखा है। दूसरोंको सामनेवाले व्यक्तिने अपनी कल्पनामें जिस रूपमें देखा है उसे वह वैसा ही दिखता है। नयी कहानीके किसी व्यक्तिने अपनी सफ़ाई देनेकी कोशिश नहीं की। यह कोशिश केवल पुराने कहानीकारकी ओरसे हुई, जिनका नाम है जैनेन्द्र। साथ ही नये साहित्यबोधको जो भोगकी कसौटीपर उतारा, शायद उन्हें ग़लतफ़हमी हुई है। हम 'भोग' शब्दका उपयोग करते हैं लेकिन उसका अर्थ है जीवनको भोगनेका। लेकिन उनके खयालमें भोगनेका एक ही अर्थ होता है। और उसीके अनुसार उन्होंने आलोचना की। यदि नयी समकालीनता और असमकालीनता, प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धताकी बात पुराने कथाकार करते हैं तो उन्हें नये लोगोंके नाम सुन लेनेके अलावा उनकी रचनाएँ भी पढ़ लेना चाहिए। बात करते हैं तो किसी आधारपर की जानी चाहिए। वे एक कहानीका उदाहरण बतला दें कि 'भोग' का उस रूपमें उपयोग हुआ है जिस रूपमें भोगका उल्लेख उन्होंने किया है। मैं यह नहीं कहता कि नये कहानीकारकी दृष्टिको, जिस ढंगसे आलोचना की है उसे मैं बुहारे दे रहा हूँ। जैनेन्द्रजीका एक बहुत व्यक्तिवादी दर्शन है, उस व्यक्तिवादी दर्शनमें केवल व्यक्ति प्रधान होता है इसलिए उनकी निगाहमें केवल अपना अप्रधान हो जाये। ये उस व्यक्तिवादी दर्शनकी पराकाष्ठा ही नहीं, स्वाभाविक परिणति है परन्तु जब नया कहानीकार अपने समकालीन कथा-साहित्यकी, जीवनकी और जीवनके सन्दर्भोंकी बात करता है तो उसे व्यावसायिक बताते हैं। वह व्यावसायिक है और उसका समयबोध जो कि दशकोंमें नहीं बँट सकता, पंचकोंमें नहीं बँट सकता, क्यों नहीं बँट सकता वह, इसलिए कि उनके खयालमें शाश्वत एक समय है—मैं यह कहूँगा कि साहित्य और कला, सब कला और साहित्य डेटेड हैं। जब आज वाल्मीकि-रामायणकी बात करते हैं तो उसको डेटेड कहनेका यह अर्थ नहीं है कि श्रेष्ठता समाप्त हो गयी। सूर अगर अपनी शताब्दीके सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं तो उसका अर्थ यह नहीं कि उनकी श्रेष्ठता समाप्त हो गयी परन्तु उसके साथ हम जानते हैं कि हर समयका एक आधुनिक सन्दर्भ है और उन वाल्मीकिने, सूरदासने, अपने समयके सन्दर्भमें रचना की है, अपने मनके भावों, घात-प्रतिघातोंको स्वाभाविक अभिव्यक्ति दी है। अनायास अभिव्यक्ति दी है इसीलिए आज उनके साहित्य श्रेष्ठ हैं। परन्तु आज वैसे साहित्य लिखनेवाले व्यक्ति, आज बिहारी सतसईकी-सी रचना करनेवाले व्यक्ति, कवित्त और सवैयेके माध्यमसे रचना करनेवाले व्यक्ति मौजूद हैं। उस समयके लिए वह एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति थी, आजके लिए वह सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं। इसी

तरह साहित्य शाश्वत रहते हुए भी कला शाश्वत रहते हुए भी हमेशा डेटेड होती है। आप कहते हैं कि फ़ोरटीन्थ सेन्चुरीकी पेण्टिग—कहनेके साथ आप एक सेन्चुरीका, एक समयका सम्बन्ध जोड़ देते हैं, उसे संकुचित बना देते हैं मगर इसका यह मतलब नहीं कि फ़ोरटीन्थ सेन्चुरीका होनेके नाते वह आज रचनीय नहीं। परन्तु आज अगर आप उस समयकी पेण्टिंगको सामने देखकर मातम तिथियाँ मनाने लगेंगे, तो वे अवश्य रचनीय नहीं होंगी क्योंकि उनकी प्रेरणा जो है वह उनके समयसे, उनके सम्बन्धसे अभिभूत नहीं है। साहित्य-कलामें दोनों परिस्थितियाँ बराबर रहती हैं। कलामें दोनों परिस्थितियाँ बराबर रहती हैं, वह शाश्वत भी है और समय-अपेक्षित भी। हम जब समय सापेक्षता-की बात करते हैं तो शाश्वतताके विरोधमें नहीं। एक अखण्डताके विरोधमें खण्डकी बात नहीं करते। बल्कि इन दोनों अपेक्षाओंके निर्वाहकी दृष्टिसे, बल्कि यूँ कहें कि कला अपने समय-सन्दर्भमें ही, अपने समयके पूरी-पूरी कार्य-कारण श्रृंखलामें बनता हुआ जो व्यक्ति-मन है, अपना स्व, जिस 'स्व'को ओर जैनेन्द्र-जीने संकेत किया था, वह है, किसी अलग द्वीपमें अकेला बैठा हुआ कोई व्यक्ति नहीं जो सबसे कटा हुआ है। वह स्व नहीं। वह अपनी परिस्थितियोंसे बनता और बदलता हुआ एक चेतन तत्त्व है। अगर आज भी वह स्व मंचपर आकर अपनी व्याख्या देने लगता है तो जो परिस्थितियाँ उसके लिए उत्तरदायित्व हैं, तो स्व किन्हीं प्रभावों किन्हीं परिस्थितियों-द्वारा संचालित होता हुआ अपने रूपको ग्रहण करता है। यह किसने कहा है कि सब लोग एक-सी रचनाएँ लिखने लगेंगे बल्कि नयी कहानी-की विविधताकी बात करते हुए हममें-से हर व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे बिलकुल अलग लेखनकी प्रक्रियामें-गुज़रता है। इसलिए नयी कहानीमें एक रूपात्मकताके दर्शन नहीं होते। यह बात नयी कहानीकी ही नहीं है, किसी भी साहित्य-सृष्टिकी हो सकती है। जबतक रचना महत्त्व-पूर्ण नहीं बनती तबतक रचनाका मूल्य नहीं बनता। इस बननेकी एक प्रक्रिया है जब स्व किन्हीं परिस्थितिमें-से बनता है, तो उसको राजनीतिकके रूपमें झुठला देना ठीक नहीं बल्कि हम राजनीतिक पार्टियोंके प्रभावसे आनेवाले प्रभावोंसे अस्वीकार करते हैं क्योंकि इनसे हम साहित्य-सृष्टिके मार्ग नहीं पा सकते। जितने पात्र होते हैं उन सबके भी अपने छोटे-छोटे स्व हैं, वे लेखककी ओरसे आते हैं क्योंकि उनके पीछे पूरा परिवेश होता है, उस माहौलसे बनती यथार्थ अभिव्यक्ति-के कारण है। भोगे हुएका अर्थ वह नहीं है जो जैनेन्द्रजी लेते हैं वह स्व-अनुभूति है। हम उसे इस रूपमें नहीं भोगते। किसी कुम्हार-द्वारा अपना काम करना, किसी क्लर्क-द्वारा अपनी फ़ाइलोंको देखना और किन्हीं अन्य व्यक्तियों-द्वारा अपने-अपने काम करनेसे हमारा आशय है सहनेका, जीवनको भोगनेका। इसका मतलब यह नहीं कि नम्बर २१८—जैसा हमारे अग्रज बन्धुको लगता है। इस बातकी ख़ुशी हुई कि जैनेन्द्रजी बहुत अच्छे अभिनेता भी हैं। उन्होंने वाणीके जिस उतार-

चढ़ावमें अपनी बातका निर्वाह किया उसकी मैं बहुत क़द्र करता हूँ किन्तु अभिनय कर सकना और विश्वासकी परिणतिको साबित कर सकना ये दो अलग-अलग बातें हैं। मैं जहाँ-पर उनके अभिनयकी क़द्र करता हूँ वहाँ मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि एक बिन्दु-पर चक्कर लगाते रहनेसे यह सिद्धि नहीं होगी। वे शिखरसे उतरकर अपने आस-पासके लोगोंसे अगर तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, वे दरियागंजके ही लोग क्यों न हों, उतने ही लोगोंके साथ अपनेको सहभोक्ताके रूपमें रखते हों तो मैं समझता हूँ कि शायद उस साहित्यिक दृष्टिमें थोड़ा-बहुत अन्तर आने लगेगा। जो आस-पासके परिवेशको देखता हुआ उसकी परिस्थितियोंसे गुज़रता हुआ विशेष और विशिष्ट दोनोंके साथ सहभोक्ताके रूपमें जीते हुए रचना करने लगेगा तो यह उसके दायित्वका श्रीगणेश है।

● उत्कृष्ट और सुन्दर कहानी : जीवनदृष्टि चाहे जो हो···

भीष्म साहनी : कहानीकी ओर तो बहुत ध्यान दिया गया लेकिन कहानीके कला-पक्षकी ओर बहुत कम। कहानी कलाकी कसौटीपर परखी जाती है। मेरी रुचि उत्कृष्ट सुन्दर कहानीमें है। चाहे वह किसी भी जीवनदृष्टिसे लिखी गयी हो। विश्वसाहित्यमें कई ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने वृद्धावस्थामें सुन्दर रचनाएँ रची हैं जैसे टॉलस्टाय हैं। सृजन-प्रक्रियाका बहुत बारीकीके साथ काल-विभाजन करना हमें भ्रान्तियोंमें डाल देता है। जिस जीवनदृष्टिपर हम तर्क करते हैं कहानियोंमें कई बार उसकी झलक नहीं पाते। कई बार ऐसी कहानियाँ पढ़नेको मिलती हैं, जिसमें लेखकके विश्वासके विपरीत झलक मिलती है। विचार-पक्ष ज़रूरी है, समयबोध बहुत ज़रूरी है। लिखनेका ढंग बदलता है, रुचियाँ बदलती हैं। विचार-पक्षके साथ-साथ कला-पक्षकी ओर भी उतना ही ध्यान दिया जाना ज़रूरी है। हम इतने विचार करते हैं कि हमारी उपलब्धियाँ ऐसी नहीं हैं कि उनके बारेमें बहुत ही दम्भके साथ विचार कर सकें। आज तो चरित्रहीन और गठनहीन कहानीकी चर्चा की जाती है। लेकिन जब चरित्र और गठनवाली कहानी लिखी जाती थी तब भी हमने महान् कृतियोंकी रचना नहीं की। हम एक दूसरेसे समझकर यह सोचें कि क्या कारण है कि जो हमारा साहित्य विश्व-साहित्यके स्तरपर आनेसे रुका हुआ है?

५ कथा-शिल्प: प्रयोगकी प्रक्रियाका प्रयोग····

२६ दिसम्बर। सुबह ९ बजे। विषय : कथा-शिल्प प्रयोगकी प्रक्रिया। अध्यक्ष : डॉ० लक्ष्मी-नारायण लाल, राजेन्द्र यादव, श्रीकान्त वर्मा। वक्ता : शैलेश मटियानी, भगवतीचरण वर्मा, सुदर्शन चोपड़ा, ममता कालिया, शरद जोशी, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, धनंजय वर्मा, रमेश बक्षी, हरिशंकर परसाई, गंगाप्रसाद विमल।

• प्रयोग लेखक सामर्थ्यमें-से पैदा होता है···

शैलेश मटियानी : मैं अपनी सुविधाके लिए प्रयोगकी प्रक्रियाको तीन भागोंमें बाँटना चाहूँगा : प्रयोग, प्रवृत्ति, परम्परा। आस्था और अनास्था। संकट-बोध और उपलब्धि। जो प्रयोग मनुष्यकी अपनी सामर्थ्य-में-से आता है, वह पुष्ट होता है। जहाँ प्रयोग ऊपरी सतहसे उभरता है, जहाँ वह मात्र चौंकता है, वहाँ वह महज़ तमाशा है। मुझे एक हज्जामके लड़केकी कहानी याद आती है। उसे दाढ़ी बनाना आता ही नहीं था और वह लोगोंके गालोंपर खरोंच लगा दिया करता। फलत: उसके ग्राहक कम होते गये। इस ठहरावको तोड़नेके लिए उसने बाल-सफ़ा साबुनकी एक टिक्की खरीद ली। यह भी एक प्रयोग ही था। कहानी आज कई कैम्पोंमें बँट गयी है : नयी कहानी, अकहानी और न जाने क्या-क्या ? जैसे कम्युनिस्ट, जनसंघ, सोशलिस्ट, कांग्रेस आदि पार्टियाँ हो चुकी हैं वही हाल आज साहित्यका भी है। साहित्य राजनीतिका पिछलग्गू बन गया है। पार्टीकी ज़रूरत है झण्डा। झण्डेके बिना पार्टीका अस्तित्व ही नहीं होता, और झण्डेके लिए ज़रूरी होता है डण्डा। डण्डोंकी नियति भी टकराहट ही है। डण्डेसे सरफुड़ौवल की जाये या रास रचाया जाये—दोनोंकी ही नियति है टकराव। जैसे राजनीतिमें दुहरे व्यक्तित्ववाले व्यक्ति आ गये हैं वैसे ही साहित्यमें भी आते जा रहे हैं। राजेन्द्र अवस्थीने घुड़दौड़के जॉकी-का उदाहरण दिया था। मैं उस बातसे सहमत हूँ और मुझे लगता है कि बिना वास्तविक घुड़दौड़ शुरू हुए ही लेखक-जॉकियोंकी श्रेणियाँ घोषित कर दी गयी हैं। यह काम कुछ तो प्रकाशकोंने किया है, कुछ सम्पादकोंने और कुछ जेबी आलोचकोंने। कहानी लिखनेकी असमर्थता ही 'ऐण्टी स्टोरी' के मूलमें है। मैं अपनी बातको पुन: दुहराना चाहूँगा : प्रयोग जो लेखककी सामर्थ्यमें-से पैदा होता है वह लेखकको आगे बढ़ाता है। दिल्ली, इलाहाबाद, भोपाल, इन्दौर और बम्बईके साहित्य-पड़ाव आज साहित्यकारको दिग्भ्रमित कर रहे हैं। सहकारिताके नामपर जो प्रचार हो रहा है उसे देखकर कांग्रेस-सरकारके कृषि-सहकारिता-की याद आ रही है। प्रवृत्तिको समूहके साथ नहीं जोड़ा जा सकता है। सामूहिकताकी वृत्ति सहकारिता नहीं है। आश्चर्य तो तब होता है जब अनास्थाका हल्ला मचाया जाता है। जिसकी जेबमें पैसे ही न हों, उसकी जेब काटने-का सवाल ही नहीं पैदा होता। 'मूल्य' हमारे हैं ही नहीं तो उनका विघटन कैसे हुआ ? अनास्थाके लिए आस्थाका होना ज़रूरी है। साहित्यके नामपर 'ठगविद्या' आज पनप रही है। रास्तेके जिस टुकड़ेपर नये कहानी-कार चहलक़दमी कर रहे हैं वहाँ ठहराव है। चहलक़दमी आगे बढ़ना नहीं है।

• बिना व्यक्तिगत स्पर्शके नया कुछ नहीं है···

राजेन्द्र यादव : आज मेरा मन बहुत उदास है, कुछ भी करनेको जी नहीं चाहता। क्या

चाहता है, यह नहीं मालूम····सब मिलकर बहुत-से कारण हो सकते हैं, लेकिन इस समय तो इस उदासीका कोई कारण भी समझमें नहीं आ रहा····अभी-अभी सिगरेट जलायी, तो देखा, माचिस जल ही नहीं रही है····अचानक सचेत होकर पाया कि दियासलाईकी तीली मुँहमें लगाकर मैं सिगरेटको माचिसपर घिस रहा हूँ···पेनमें स्याही भरी थी, फिर भी हर समय लगता था कि कल स्याही खत्म हो गयी है, पेन भरना है····कुछ भी करता हूँ, निरर्थक लगता है, कुछ चाहता हूँ कुछ हो जाता है। और कुछ भी नहीं करना चाहता, लेकिन कुछ अभ्याससे कुछ अपने-आप होता जाता है और बोझ है कि मनपर गहरा होता जाता है····

यों यही कभी-कभी साहित्यमें भी होता है। भीतरकी अनाम बेचैनी और अनबूझा दबाव स्थितियों और परिस्थितियोंके साथ अपने सम्बन्धकी समझ, कन्फ़्यूजन, मूल्योंका संक्रमण हमारे व्यवहारों यानी अपने लिखे हुएके रूपको अनजाने ही बदलने लगता है···· हम चुस्त-दुरुस्त कहानी लिखना चाहते हैं, साफ़-सुथरी तसवीर बनाना चाहते हैं लेकिन पाते हैं कि तसवीरकी जगह कुछ उलटी-सीधी रेखाएँ हैं, तसवीर उनमें बड़ी मुश्किलसे पहचानी जाती है, कहानीकी जगह आत्मस्वीकृति, संस्मरण या यों ही मुखर चिन्तन-जैसा, पता नहीं क्या कुछ बन गया है और कहानीकी जगह कहानीपना उसमें विरल हो गया है···· सन्तोष कर लेते हैं कि कहानी न बनी, न सही चित्र बना तो कोई बात नहीं, शिल्पीकी मनःस्थितिका दस्तावेज़ तो यह रचना हो ही गयी····और कुछ न समझेंगे लोग तो यही मान लेंगे कि चलो, एक प्रयोग ही है कि उस समयका कलाकार ऐसी उलझी मानसिकतामें जीता था····। यह प्रयोगकी प्रारम्भिक स्थिति है····कलाकार और कृतिके सन्दर्भमें स्थिति···· लेकिन रचनाका प्रणेता केवल कलाकार ही नहीं होता, उसके भीतर और बाहर एक और भी है जो उसका रंगरूप निर्धारित करता है, द्रष्टा, पाठक या सहभोक्ता—उसे जो कुछ भी नाम दे लीजिए। और यह जब रचना टूटकर या हटकर—अथवा टूटने-हटनेकी स्थितिमें जब वह इसे देखता-सँवारता है तो उसकी नोंकें, कोने और घुमाव रिटॅच करके अपने लिए और दूसरोंके लिए अर्थ दे देता है···· प्रयोग सार्थकता ग्रहण करने लगता है, सम्प्रेषणीय हो उठता है····इस प्रक्रियामें रचनाकार पाता है कि बात साफ़ नहीं हो गयी है। इस स्थितिके बाद बातको प्रभावशाली और उस प्रभावको गहन बनानेके प्रयत्न और प्रयोग अनेक स्तरोंपर चलते हैं और तब कलाकार सहसा अपनेको परम्परा या आस-पाससे अलग पाने लगता है। इसे और भी सही ढंगसे कहनवालोंकी परम्परामें आ जाता है। सब मिलकर विधाके विकासकी अपनी अलग परम्परा स्थापित करता है। प्रक्रियाका दूसरा पहलू भी है। यह परम्परा कुछ समय बाद ही स्वयं कलाकारकी परिपाटी यानी मैनरिज़्म बनने लगती है, उसके कलाकार-व्यक्तित्वका निर्धारण करने लगती है। अब यह खुद उसकी मेधा और प्रतिभापर निर्भर करता है कि वह कहाँतक उस परिपाटीका निर्वाह

करे, स्वयं उसका गुलाम बने।

लेकिन उसका यह आत्मसंघर्ष; उससे प्राप्त उपलब्धियाँ और प्रभाव औरोंके लिए प्रलोभनीय बन उठते हैं। तब वह देखता है कि आस-पास या आगे-पीछे कुछ और भी है जो ठीक उसी तरह उसी अन्दाज़े-बयाँसे अपनी बात कहनेकी कोशिश कर रहे हैं जैसा वह खुद चाहता रहा है। अब चूँकि यह अन्दाज़े-बयाँ स्वयं उनके भीतरी दबावसे उद्भूत, आन्तरिक और अनुभूत आवश्यकता नहीं होती इसलिए उनके हाथ सिर्फ़ अन्दाज़ पड़ता है बयाँ या तो ग़ायब हो जाती है या उसके लिए दूसरोंकी ही पूँजीका मुँह देखना पड़ता है। पिरादेलोका नाटक 'लेखकको तलाशमें छह पात्र' या लागरविस्टको कहानी 'नरक' ले जानेवाली लिफ़्ट'के प्रयोग-चमत्कारसे आकर्षित होकर जब मैं वैसा ही कुछ लिखना चाहूँगा तो उसके लिए सामग्रीकी खोजमें भी मुझे आकाश-पातालमें टकराना होगा—और इस खोजमें कोई ज़रूरी नहीं है कि अनुभूतिकी प्रामाणिकता और व्यक्तिगत स्पर्श भी हो, जो आजकी कहानीकी बहुत बड़ी विशेषता है। कथनभंगीके चमत्कारके प्रति दुर्निवार आकर्षणका एक दूसरा पहलू भी है। हमेशा ही ऐसा होता हैं, यह ज़रूरी नहीं है। कभी किसीके तर्ज़े-बयाँसे खिचकर, कलाकारको सचमुच खुद भी भीतरसे लगता है कि शायद उसकी अपनी बात भी इसी अन्दाज़, इसी तर्ज़में अधिक प्रभविष्णु हो सकती है। अभिव्यक्तिके जिस कोणकी तलाशमें वह परेशान था वह अचानक दूसरोंकी चीज़ देखकर अपने सामने भी कौंध जाती है। मुझे नहीं मालूम 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' कथ्यकी माँगसे उपत्न्न प्रयोग-चमत्कार है या नहीं लेकिन 'चाँदनीके खण्डहर'का कथ्य निश्चय ही 'यूलिसीज'के शिल्पमें खप गया है—जब कि यही शिल्प 'डूबते मस्तूल'में एक दूसरेके विरोधी दिशाओं-में पड़ जाते हैं।

हम सब लोगोंके लिखनेकी प्रक्रिया यही रही है। कभी हम कहानीके किसी विशेष रूप, विशेष प्रयोगसे आकर्षित हुए हैं और उस प्रयोगमें अपनी बात ढालनेकी कोशिशमें अनजाने ही उसे समृद्ध करते रहे हैं और कभी यह रूपका प्रयोग अपने भीतरी दबावको अभिव्यक्त करनेकी मजबूरीमें हमसे हो गया है। हम सबने अलग-अलग अपने यथार्थको अपनी तरह भोगा और उसे वाणी दी है। इसलिए अभिव्यक्ति-प्रयोगमें कभी एक दूसरे-के बहुत पास आ गये हैं, कभी एकदम उलटी दिशाकी ओर चले गये हैं—लेकिन इस विविधताके पीछे अनुभूतिकी प्रामाणिकता और उसके प्रति निर्वैयक्तिक, तटस्थ दृष्टि शायद सभी समान रही है क्योंकि यही तो वह धरती है जहाँ नयी कहानी पुरानीसे अलग होती है। अँगरेज़ीमें इसे कह लीजिए—युनिटी इन डाइवर्सिटीज़....

अनुभूति हो या अभिव्यक्ति नितान्त और आधारभूत मौलिकताका दावा कोई नहीं कर सकता, किसी भी स्तरपर नहीं कर सकता। हाँ, इन्हें ईमानदारीसे अपने व्यक्तित्वके साथ अनुस्यूत कर लेनेकी बात ज़रूर कही जा सकती है। हम लोगोंकी परिस्थितियाँ, परिवेश, पर-

म्पराएँ और संस्कार प्रायः इतने समान हैं कि मेरी अनुभूति समग्रतः मेरी अपनी है ही नहीं। न जाने कितनी संवेदनाएँ और प्रतिक्रियाएँ हमें दूसरोंने दी हैं, और कहीं-न-कहीं हम उन अनुभूतियों-रूढ़ियोंको स्वीकार करनेको बाध्य हैं। स्थितिकी सारी 'एवेयरनेस'के बावजूद हम कुछ रूढ़ प्रतिक्रियाओंके लिए 'कण्डीशण्ड' हैं, आधुनिक भाषामें 'कण्डेम्ड' हैं···· केवल 'पर्सनल टॅच' देकर ही हम उन्हें अपना बना सकते हैं—वह टॅच स्वीकृतिका हो सकता है, अस्वीकृतिका हो सकता है, उपहासका हो सकता है, विश्लेषणका हो सकता है। वरना प्रेमकी स्थितियाँ लें, या ग़मे-ज़िन्दगीके विभिन्न रूप, बरसोंसे छूटे मित्रका बसमें अचानक मिल जाना लें या शुभ-सूचनाकी खुशी—स्थितियाँ तो सभी समान हैं और हममें-से हरेककी ज़िन्दगीमें घटित होती रहती हैं—बिना इस व्यक्तिगत स्पर्शके नया कहाँ क्या है ?

कहीं कुछ भी नया नहीं है, इसकी एवेयरनेस अभिव्यक्तिके स्तरपर शायद सबसे अधिक ठोस रूपमें सामने आती हैं: भाषा, शब्दोंके अर्थ, संकेत, व्याकरण, मुहावरे और स्थिति-सन्दर्भ—इन सबमें परिवर्तन इतनी देरसे और सूक्ष्म स्तरोंपर होता है कि इनके चित्रण हर क़दमपर हाथ बाँध लेते हैं। तब अकसर झुँझलाहट होने लगती है कि आखिर यह सब क्यों होता है ऐसा ?

कुछ 'कवि इन्फ़िल्ट्रेटर' भी कथा-साहित्यके दायरेमें घुस आये हैं। नामवर सिंह-जैसे समीक्षक भी काव्य-गुणोंकी इसी चकाचौंध और चकमेमें आ ही गये। 'सा' और 'की'-तरहवाली उपमाएँ मेरी समझमें ग़लत हैं। मनःस्थितियोंको वस्तुओंसे उपमित करना मुझे ठीक नहीं जँचता। कहानीमें आज भी 'छायावाद-स्मगल' होता जा रहा है। मानसिक स्थितियोंका अनुवाद वस्तुओंमें हो ही नहीं सकता। भाषा, संकेत, मुहावरे, प्रतीक और उन प्रतीकोंके परम्पराबद्ध अर्थ काफ़ी अनगढ़ होते हैं।

कहानीकी सांकेतिकताके लिए जिस पारदर्शी और सपाट भाषाकी ज़रूरत होती है वह भाषा ही हैमिंग्वेकी। आत्यन्तरिक कथ्यके दबावसे उत्पन्न ढाँचा और सचेतन प्रवाहसे प्रभावित शिल्प-प्रक्रियाको मैं उपलब्धि तो मानता हूँ पर वह सब कुछ नहीं है कहानीमें। नयी कविताके शिल्पमें नयी कहानीकी शब्दावली मिल सकती है। नयी कवितासे नयी कहानीको खतरा है, जैसे सिनेमासे नाटकको खतरा है। कवितापर समीक्षा करनेवाले टहलते-टहलते कहानीकी ओर आ गुज़रे हैं।

अभी भी हमारे कथाकारोंमें 'इन्फ़िरियरिटी कॉम्पलेक्स' है। हमारे यहाँ कुरते-पाजामेसे कोट-पैण्टको आधुनिक माना जाता है, गाँवकी अपेक्षा शहरको, शहरकी अपेक्षा राजधानीको और राजधानीकी अपेक्षा विदेशको यहाँ आधुनिक समझा जाता है। आधुनिकताकी यह शृंखला सीधे पेरिस या न्यूयॉर्कसे यहाँ चली आ रही है। विदेशोंपर लिखनेवाले रामकुमार और ऊषा प्रियंवदा भी मुझे अच्छे लगते हैं और ठेठ गाँवोंपर लिखनेवाले शैलेश मटियानी और पानू खोलिया भी। कमलेश्वरकी

कहानी 'दुःखोंके रास्ते' भीतरके दबावपर लिखी वाक़ई कहानी है—उसपर प्रतीकवादी चित्र या मूर्तिकलाके सिद्धान्त उढ़ाये नहीं गये हैं। रमेश बक्षीमें 'आइडिया' पर लिखनेवालोंका-सा चमत्कार है। 'राजा निरबंसिया' का दुहरा शिल्प मुझे दो युगसन्धियोंका शिल्प लगता है। शिवप्रसाद सिंहकी 'अन्नकूट', राजेन्द्र सिंह बेदीकी 'टर्मिनस', अज्ञेयकी 'हीलीबोनकी बत्तखें' अपनी अनुभूतिमें प्रामाणिक हैं। अकथामें कहानीकी कोई सार्थकता भी नहीं है। यह 'नयेपनका नया आवेश' है। दरअसल यह 'अकहानी' फ़ॉर्मका नया आन्दोलन मात्र है। यह बात जरूर है कि सन् '६० के बादकी पीढ़ी साठ निगाहोंसे कहानीको प्रस्तुत कर रही है। अगर नयी नेतागीरीके मोहाग्रहसे यह उबर सके 'भोगने' और 'जीने'-की वास्तविक स्थितिसे गुज़रकर कुछ दे सके तो कुछ उपलब्धि अवश्य होगी।

● 'एक नाज़ुक अकेली आवाज़'वाला स्प्रिंग-बोर्ड…

डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल : आधुनिक कहानीपर बात करते ही मुझे चेखवकी एक कहानी याद आती है—'ग्रीफ़' : दुःख। दिन-भरका थका-हारा कोचवान अपने घोड़ेसे ही अपनी वेदना-पीड़ा और टीसका इज़हार करता है। यह अपने-आपमें 'एक नाज़ुक अकेली आवाज़' है। वही 'नाज़ुक अकेली आवाज़' जब गिरोहोंमें बाँधी जाती है तो उसका रूप विकृत हो उठता है। पुरानी पीढ़ीका वही 'लोच', वही 'डेलीकेसी' जो अज्ञेय और जैनेन्द्रमें थी—नयी पीढ़ीमें भी है। नयी पीढ़ीका कथाकार 'अकेली आवाज़' को नहीं पहचान पा रहा है, उसी 'अकेली आवाज़' के पुराने स्प्रिंग बोर्डपर यह नयी पीढ़ी उछलकर आ खड़ी हुई है। युयुत्सु मुझे बार-बार याद आता है—जिसने आत्मग्लानिमें आत्महत्या कर ली थी। यह आत्महत्या भी युद्धकी पृष्ठभूमिसे आयी है। यह नयी पीढ़ी सचमुच अभागी है जो अपने माथेपर लगे परम्पराके तिलकको नहीं चीन्ह पाती। श्रीकान्त वर्माकी तरह बाबरने भी कहा होगा—यह कैसा मुल्क है! यहाँ तो गरम पानीके चश्मे नहीं हैं, इस मुल्कवाले कैसे ग़ुसल करते होंगे? श्रीकान्त वर्माको यह देश आज भी असभ्य लगता है। यह पीढ़ी सचमुच अभागी है कि वह एक ओर जैनेन्द्रजी, भगवतीचरण वर्मा और नागरजीके पैर छूती है दूसरी ओर उनपर कीचड़ उछालती है।

● नयी कहानी तो नये ढाँचेकी नयी व्यवस्था है…

श्रीकान्त वर्मा : मैं राजेन्द्र यादवके विचारोंसे सहमत नहीं हूँ फिर भी उनके निबन्धकी शिष्टता और गम्भीरताने मुझे प्रभावित किया है। कहानीके क्षेत्रमें राजेन्द्र यादव जिन्हें घुसपैठिया मान रहे हैं उन्हीं कवियोंके उद्धरण उन्होंने अपने एक उपन्यासमें हर दसवें पृष्ठके बाद बदस्तूर पेश किये हैं। हर प्रतिभाशाली लेखकको एक खास वक़्तके बाद

गद्य बेज़ुबान और गूँगा लगने लगता है : तब कविताकी ही शरण वह लेता है। मैं जानता हूँ कि किसी भी कविने कहानीकी पाँतोंको कवितामें नहीं 'स्मगल' किया है जब कि कहानीकारोंने कविताकी पाँतें बहुत 'स्मगल' की हैं। राजेन्द्र यादवमें शिल्पकी सफलताएँ और विफलताएँ बहुत तीक्ष्ण और साफ़ उभरी हैं, मुझे तब आश्चर्य होता है जब राजेन्द्र यादव शिल्पको कथ्यसे अलग मानते हैं। यानी 'कहनेके लिए' बात है, फिर उसी बातको कहनेके लिए शिल्प। यानी 'बुनियाद' कुछ और है और 'स्ट्रक्चर' कुछ और। यानी राजेन्द्र यादव कहानी सोचते हैं तब उसे बादमें लिखते हैं। आजकल तो अब कहानियाँ चर्ची जाने लगी हैं। यह सारा मकड़ीजाल—यानी मकड़ी, लेखककी अनुभूति है और जाल है उसका लेखकीय शिल्प। राजेन्द्र यादवमें बस 'अन्दाज़ ही अन्दाज़' है। नरेश मेहताके 'वर्णनकी कमज़ोरी'का जो ज़िक्र राजेन्द्र यादवने किया था वही कमज़ोरी राजेन्द्र यादवमें भी है लेकिन धूप-बादल-चिड़िया आदिसे निर्मल वर्मा कुछ अलग ही अर्थ दे देते हैं। फ्रान्सकी आधुनिक चित्रकलाने कवितामें सुर-रियलिज़्म पैदा कर दिया, 'जॉज़' म्यूज़िकने पूरीकी पूरी एक 'बीट' पीढ़ीको अमेरिकामें जन्म दे दिया। विधा कोई मकान नहीं है कि दूसरे मकानमें घुस जायें। मुझे नहीं पता कि कविता कैसे कहानीमें घुस जाती है। होता यह है कि मकान घुल जाता है और उस घुले हुए मकानपर दूसरा मकान खड़ा हो जाता है। मैं तो कहना चाहूँगा कि राजेन्द्र यादवकी कहानियोंका कोई नया अर्थ मेरे लिए नहीं है बल्कि जैनेन्द्रजीकी कहानियोंका नया अर्थ देती हैं राजेन्द्रकी कहानियाँ। हर लेखकको यह सोचकर चलना होगा कि वह कहाँ भिन्न है? भिन्नता निहायत ज़रूरी है लेखकके लिए। पुराने ढाँचेकी नयी व्यवस्था नयी कहानी नहीं है। नयी कहानी तो नये ढाँचेकी नयी व्यवस्था है।····राजेन्द्र यादवने खुद ही यह साबित कर दिया कि कहानी और निबन्धमें कोई फ़र्क़ नहीं है हालाँ कि ऐसा भी हो सकता है कि आजकी लिखी कहानियाँ बादमें निबन्ध क़रार दी जायें। मैं राजेन्द्र यादवकी उस बातसे सहमत हूँ जहाँ उन्होंने 'बेचैनी'का ज़िक्र किया था। वह बेचैनी ठीक वैसी ही होती है जैसे एक संगीतज्ञकी बेचैनी—जिस बेचैनीसे वह एक लय ढूँढ़ता है या कवि जिस बेचैनीसे 'इमेजेज़' ढूँढ़ता है। कथाकार भी उसी बेचैनीसे अपनी कहानी ढूँढ़ता है, चरित्र ढूँढ़ता है पर मुझे लगता है कि राजेन्द्र यादव अपनी कहानीके बारेमें मान्यताओंको ढूँढते हैं।

• दंगल, पेशा और भावनात्मक आदान-प्रदान···

भगवतीचरण वर्मा : सुना था कि लखनऊमें तीतर-बटेर लड़ते हैं। यहाँ देखता हूँ कि कहानीकारोंका दंगल हो रहा है। कला अन्दरकी प्रवृत्ति है। मैं साहित्य-रचनाकी तीन कोटियाँ मानता हूँ। जीनियस, पेशेवर और शौक़िया। जीनियस तो खैर शताब्दियोंमें एक

पैदा होता है। ऐसे साहित्यकार अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं। पेशेको बुरा नहीं मानता। पेशेसे हटना समाज-शोषणकी प्रवृत्ति है। पता नहीं क्यों, पेशे शब्दसे साहित्यकारोंको आपत्ति है ? वैसे अराजकता आजका नियम बन गयी है। मैं साहित्यको 'भावनात्मक आदान-प्रदान'का माध्यम मानता हूँ। भावनात्मक अभिव्यक्तिमें शिल्पका महत्त्व बहुत ज्यादा है। भावनाको वहन करनेकी शक्ति शिल्पमें है, शब्दमें नहीं। आक्रोश और घृणा, अनास्था और घुटन सम्पूर्ण साहित्यका सृजन नहीं कर सकते, साहित्य पूर्ण सृजनका नाम है। परिस्थितियों और प्रवृत्तियोंका योग कर्मपर पड़ता है पर इससे उबरकर ही हम 'उदात्त साहित्य' दे सकते हैं। आक्रोश हमें मनुष्यसे नहीं, उन परिस्थितियोंपर करना होगा जो सामाजिक व्यवस्थाकी देन हैं। 'अपनेपन'में उलझकर हम साहित्यका सत्यानाश करनेपर तुले हुए हैं।

● ओढ़ी हुई आस्था और कथ्यकी आन्तरिकता···

सुदर्शन चोपड़ा : मैं कोई संस्करणात्मक जीनियस नहीं हूँ। भगवती बाबूकी बातसे मैंने जो कुछ समझा है वह यह कि जिसके जितने ज़्यादा संस्करण निकलें वह उतना ज़्यादा जीनियस। भिन्न होना हमारी अनिवार्यता है। मैं उस अभागी पीढ़ीका सदस्य हूँ जो अपनेमें हर दूसरेसे भिन्न है। भिन्नता चूँकि हमारी अनिवार्यता है इसलिए हम भिन्नता सहते, भोगते और झेलते हैं। जिन्दगीके निःसृत जहरको हम पचाते हैं। भिन्न होना हमारी मजबूरी है। हम कथा ढूँढ़ें—इसकी जरूरत हमें नहीं है। कहानीको हम पेशा नहीं मानते। कथा और साहित्यको मैं अलग-अलग नहीं मानता हूँ। अभिव्यक्ति ही अपनेमें महत्त्वपूर्ण है चाहे वह किसी भी विधामें हो। आज भी लोगोंको मुग़ालता है कि वे हिन्दी साहित्यकी सेवा कर रहे हैं। 'ठेठ हिन्दीका ठाठ' लिखकर जिन लोगोंने साहित्य-सेवा की है : उनका हश्र आपके सामने है।

जहाँ ओढ़ी हुई आस्था होगी, वहाँ निश्चयतः कथ्यकी आन्तरिकता कम होगी। व्यर्थता-बोधका एहसास मुझे बराबर होता रहा है। भाषा, मुहावरे, शब्द सभी कुछ बेकार-से लगते रहे हैं। जो अभिव्यक्ति बाहर आनेको 'हाण्ट' करती है उसे 'ग्रामर'के नियमोंसे मिलाकर नहीं अभिव्यक्त किया जा सकता। हम तो उस मजबूरीको टालते रहते हैं—और जब वह टल नहीं पाती तो उसे ज्योंका त्यों अभिव्यक्त कर देते हैं। यहीं हमारा आत्मसंघर्ष शुरू हो जाता है—इस संघर्षको बहुत कम लोगोंने महसूस किया है। यहींसे हमारा 'आइडेण्टिटी क्राइसिस' भी शुरू हो उठता है। इसीके साथ-साथ 'लैंग्वेज क्राइसिस' भी। अपनी बात मुझे कहकर किन्हीं लोगों तक पहुँचानी है—इसलिए मैं नहीं लिखता बल्कि इसलिए लिखता हूँ कि कहकर-फिककर मैं हलका हो लेता हूँ। पाठक और आलोचकका न मेरे लिए कोई अस्तित्व है और न मैं उन्हें महत्त्व ही देता हूँ।

● कहानीका 'वह' रूप मर गया है…

ममता कालिया : डॉनने कहा था कि लिखते समय लेखकका लहू उँगलियोंके पोरपर आ जाता है। ऐसी ही 'इण्टेन्सिटी' और तन्मयताके क्षणमें सृजन होता है। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश—नयी पीढ़ीके ये तीन नाम है : जिन्होंने 'नये' और ताज़े 'प्रयोग' शिल्पकी दृष्टिसे भी किये और कथ्यकी दृष्टिसे भी। अब कहानीका 'वह' रूप मर गया है जिसमें एक अच्छी-सी भूमिका होती थी, चरित्र होते थे, घात-प्रतिघात गढ़े जाते थे, एक 'साल्यूशन' होता था और अच्छा-सा अन्त होता था। कहानी शब्द अपने-आपमें मर गया है, नयी कहानी भी मर चुकी है। हो सकता है 'अकहानी' भी अपने आपमें कुछ समय बाद मर जाये। निर्मल वर्माको विदेशी धूपके टुकड़े, कहवाघर, चायघरकी पृष्ठभूमिसे मोह है, यही पृष्ठभूमिका मोह उन्हें पीछे लौटाता रहा है। हम लोग लगातार एक शिलाहीनताकी ओर बढ़ते जा रहे हैं।

● यथार्थपर मोमवाली पच्चीकारीका ख़तरा…

शरद जोशी : शिल्प कोई 'कृत्रिम प्रॉसेस' नहीं है, वह तो 'आन्तरिक सहज प्रक्रिया' है। शिल्प कोई फूल-जैसी चीज़ नहीं है जिसे ऊपरसे रख दिया जाये। कहानी जिन्दगीकी कतरन होती है। कतरनका हर रेशा, हर रंग उस पूरे वस्त्रका एक अंग होता है। शिल्प कोई अलगसे बुनावट नहीं है। प्रयोगकी कृत्रिमताका मैं विरोध करता हूँ, करता आ रहा हूँ। शिल्प तो एक 'लिविंग प्रॉसेस' है। यदि वह 'लिविंग प्रॉसेस'—वह विकसनशील प्रक्रिया—अपने-आपमें कहीं रुक जाये तो शिल्प मुर्दा हो जाये। मुझे एक चित्र याद आ रहा है 'द हाउस ऑफ़ वैक्स'—जिसमें आदमीपर पिघली मोम डालकर उस आदमीकी मूर्त्ति तैयार कर ली जाती थी। लेकिन उस मूर्त्तिमें प्राण नहीं आ सकता था। निर्मल वर्मा भी यथार्थपर पिघली मोम डालकर हमें देते आये हैं। इस 'लिविंग प्रॉसेस' को जो बन्द कर दे उसपर हत्याका आरोप मढ़ा जाना चाहिए। यथार्थपर मोम डालकर जो पच्चीकारी हमारे सामने पेश की जा रही है उससे कहानीको ख़तरा है। यह जो ठहराव है, 'ठिठकन' है, जहाँ ऊपरी सतहपर काई जमी हुई है उसके नीचे बहाव जारी है। यह 'स्टेगनेन्सी', यह 'ठिठकन' भी ठिठकन नहीं है। काई काई नहीं रहती। उसको आकर कोई चीज़ जीत जाती है। धूपका तिकोना भी तिकोना ही नहीं रह पाता। निर्मल वर्माको 'ठहराव' और 'ठिठकन' से प्यार है तो हो पर कहानीके लिए, हमारे लिए यह मौत होगी। निर्मल वर्माको कैफ़े या रेस्त्राँका अँधेरा कोना चाहिए, ठण्डी बेंचें चाहिए, खामोश पार्क चाहिए, चर्च चाहिए, औरत उनके संग हो तो वह खामोश होना चाहिए। वह अगर खामोश नहीं हो तो निर्मल वर्मा खामोश होंगे पर मैंने इस 'ठहराव'का सदैव विरोध किया है।

● चुन्नट और सलवट : एक आंचलिक, दूसरी विदेशी···

डॉ० शिवप्रसाद सिंह : रचनाकार सचेतन स्थितिमें शिल्पकी व्याख्या कर ही नहीं सकता है। 'भीतरके दबाव'के दबावपर जो अभिव्यक्ति बाहर आती है, अभिव्यक्त होनेके बाद उसकी भीतरी दाह-शक्ति खत्म हो जाती है। भीतरकी दाहशक्ति शब्दोंमें बँधते ही कुछ अजब रूप धारण कर लेती है। आंचलिक चुन्नट और सलवटके प्रयोग 'रेणु'ने किये थे—उसी तर्ज़की विदेशी चुन्नट और सलवट निर्मल वर्मा भाषामें दे रहे हैं। लोग प्रतीक पहले चुन लेते हैं और भाषाको उसपर थोप देते हैं। यह प्रक्रिया ही ग़लत है। शब्द खुद-ब-खुद प्रतीक हैं। घ और ट में कोई ऐसा भाव-बोध नहीं है जो घड़ेका बोध करा सके। जब रमेश बक्षी 'सिम्बॅल' चुनते हैं तब उनकी वह विवशता होती है। 'कथ्यकी उलझनकी विवशता'-से कथाकार प्रभावित होता है। कहानी और कविताकी विधाको अलग-अलग काट देना ज़रा कठिन काम है। कविताका असर कहानीपर पड़ता है वह मैं भी मानता हूँ।

● शिल्प दिमाग़ी ऐय्याशी नहीं है···

धनंजय वर्मा : चमत्कार पैदा करनेके लिए 'कॉन्शियसनेस' होनेकी ज़रूरत है। जो लिख नहीं सकता, वह चमत्कार पैदा करता है। जो लिख सकता है वह केवल लिखता है। शिल्प कोई बक्स तो नहीं है जिसमें वस्तुएँ या घटनाएँ रख दी जायें। कभी-कभी शिल्प पहले आता है और कथा-वस्तु बादमें। फ़ील्डिंगकी कहानीको आप जेम्स ज्वाएसके शिल्पसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते और न जेम्स ज्वाएसकी कहानीको फ़ील्डिंगके शिल्पसे। शेक्सपीयरकी नाटयवस्तुको इब्सनके नाटयरूपसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते। निश्चित पैटर्नके अभावमें कथावस्तुके लिए इधर-उधर भटकना पड़ता है। शिल्प दिमाग़ी ऐय्याशी नहीं है। यथार्थसे भोगी हुई चीज़ोंकी सम्बद्धताका प्रश्न लेखकके जीवनसे जुड़ा हुआ है और लेखकका जीवन शिल्पके सामर्थ्य और असामर्थ्यसे।

● अपनी बातको ठीक-ठीक अभिव्यक्त करनेकी अनायासता···

रमेश बक्षी : मैं दो चीज़ोंके लिए बदनाम रहा हूँ—एक शिल्पके लिए, दूसरे बुशशर्टके लिए। 'भद्रता'को मैं पारम्परिक अर्थोंमें 'तमीज़' नहीं मानता हूँ। यह जो 'इनवर्टेड कॉमाज़'वाली भद्रता है, उससे मेरा विरोध है। राजेन्द्र यादवने जिस बेचैनीका जिक्र किया था वह बेचैनी निश्चित ही अभिव्यक्तिके पक्षमें होती है। किसी चीज़की अगर 'गढ़ने'की बात हो तो हम बता भी सकते हैं कि अमुक चीज़ कैसे 'गढ़ी' गयी, पर यहाँ तो गढ़नेका कोई सवाल ही नहीं है। 'ठीक-ठीक अभिव्यक्त' करनेकी स्थिति हमें बाध्य कर देती है कि हम बहुत-कुछ पुराना कूड़ा-कचरा छोड़ दें। अपनी बातको ठीक-ठीक अभिव्यक्त कर

सकनेकी अनायासता ही तो शिल्प है। हो सकता है उसमें शिल्पहीनता हो—लेकिन यह शिल्पहीनता यदि एक 'रूढ़ शिल्प' बन जाये तो यह अपने-आपमें खतरा है। चूँकि ठीक-ठीक अभिव्यक्त करनेकी कोशिशके बीचसे यह शिल्पहीनता आयी है, अतः उसे 'रूढ़ शिल्प' नहीं कहा जा सकता है। राजेन्द्र यादवमें शिल्पमयताके सारे प्रयोग हैं, काफ़ी कुछ पच्चीकारी है। 'ठीक-ठीक' अभिव्यक्ति देनेकी इस बेचैनीके पीछे अन्दरकी ईमानदारी है। यह ईमानदारी अपने-आपमें एक नयी चीज़ है। वह 'अनायास' आयी है। यह अनायासता बहुत बड़ा अन्वेषण है। निश्चित किसी एक बातके लिए बदनाम व्यक्तिको उस चीज़के फ़ायदेसे दूर नहीं किया जा सकता।

● अंशतः इन्वाल्व होना ईमानदारी नहीं है...

हरिशंकर परसाई : श्रीकान्त वर्माको मैं यह विश्वास दिला सकता हूँ कि दलहीनताका भी एक दल होता है। यह जो 'हॉरर', 'फ़्रस्ट्रेशॅन', 'मृत्यु-बोध' और 'संकट' की बातें हो रही हैं, क्या वाक़ई ये सब अपरिवर्तनीय हैं? संकट मुझे भी है, मृत्यु-बोध मुझे भी होता है, घाव मुझे भी लगते हैं, पीड़ा भी होती है पर 'मृत्यु' की कामना मुझे नहीं होती। मुर्देपर अगर कफ़न डाल दिया जाये तो समझमें आता है कि वह मर गया है पर ज़िन्दा आदमी अगर कफ़न ओढ़ ले तो लगता है कि यह चन्दा इकट्ठा करनेकी साज़िश है! प्रमोशनके लिए दरख्वास्त देनेमें कोई चूक नहीं होती, छपनेमें कोई चूक नहीं होती, प्रचार करनेमें कोई चूक नहीं होती, बच्चोंको अच्छे कपड़े पहनानेमें, कॉन्वेण्ट भेजनेमें कोई चूक नहीं होती, शृंगार करनेमें कोई चूक नहीं होती, शामको चौराहेपर घूमनेमें कोई चूक नहीं होती, लड़कियोंके ऑटोग्राफ़-बुकपर दस्तखत देनेमें कोई चूक नहीं होती। फिर यह मृत्यु-बोध है कैसा? ऐसा लगता है कि कुछ लोग मैदानमें खेल रहे हैं और कुछ उनके इर्द-गिर्द बैठे देख रहे तमाशबीन हैं। अनायास अगर किसी तमाशबीनके सिरपर-से गेंद गुज़र जाये या उसको लग जाये तो वह तमाशबीन खिलाड़ी नहीं हो जायेगा। यह पीड़ा-बोध, मृत्यु-बोध तमाशबीनोंका-सा लगता है। इसे मैं 'डिस् इल्यूज़नमेण्ट' की स्थिति मानता हूँ–यह 'डिस् इल्यूज़नमेण्ट' सन् ५३–५४ से ही हिन्दी में आ गया है। न पूरी तरह 'पार्टिसिपेट' करते हैं और न हम पूरी तरह 'इन्वॉल्ड' हैं उन परिस्थितियोंसे। अंशतः 'इन्वॉल्व' होना 'सम्पूर्ण सन्दर्भ' के प्रति ईमानदारी तो नहीं है। साधारण मज़दूर और क्लर्क भी संघर्ष करते हैं पर वे जीवनसे हटते नहीं, जीवनसे कटते नहीं, जीवनसे वे जूझते हैं। दैनन्दिन जीवनका संघर्ष उन्हें बल देता है। अपना 'फ़्रस्ट्रेशॅन' हम ग़लत ढंगसे 'प्रोजेक्ट' कर रहे हैं। पुराने प्रगतिवादियोंमें यह ग़लतफ़हमी थी कि हर किसीके हाथमें तलवार दे देनेसे क्रान्ति पैदा हो जायेगी। लेकिन यह ग़लत सिद्ध हुआ है। आप 'टॉवर' के ऊपर रोते हैं और रोनेके

साथ ही एक रस्सीमें बँधा थैला भी नीचे लटका देते हैं कि आने-जानेवाले आपके थैलेमें रोटीका टुकड़ा डाल दें—आप रोते हुए उसे खा भी लेते हैं। इस रोनेपनसे तो 'मृत्यु-बोध' ही आयेगा। राशनकी क्यूमें खड़े रहकर भी आप अपनेको क्यूसे अलग विशिष्ट व्यक्ति मानते हैं और क्यूसे बाहर आते ही क्यूमें खड़े लोगोंको कीड़े-मकोड़ोंसे भी बदतर समझते हैं। अहंकारके घोंघेसे आप बाहर आइए और अपनेको व्यापक संघर्षसे जोड़ दीजिए।

● क्यूमें खड़े रहनेवालोंका दर्द : तीव्र संवेदना···

गंगाप्रसाद विमल : जिस पीढ़ीका हम उल्लेख कर रहे हैं : वह अपने प्रयोगोंके कारण कहाँ तक सफल हो चुकी है, यदि हम उसे समझ लें तो कुछ भी समझने की ज़रूरत नहीं रह जाती। मैं डॉ० अवस्थीके 'ऐतिहासिक' बोधका समर्थन करता हूँ। यदि आप हमारे दर्दको साधारणीकृत कर लें तो वह दर्द आपको अपना निजी दर्द लगेगा। समकालीन कथाकार यथार्थको खोजता है, मैं कहता हूँ वह भोगता है। जहाँतक 'पार्टिसिपेशन' और 'इन्वॉल्वमेण्ट'की बात है, यह आवश्यक नहीं है कि आप 'राशनके क्यू'में खड़े ही हों बल्कि ज़रूरत इस बातकी है कि आपमें तीव्र संवेदना हो, लाइनमें खड़े रहनेवालोंका दर्द आप तीव्रतासे महसूस कर सकें। फिर लाइनमें खड़े रहनेवालोंका दर्द आपमें रूपायित हो उठेगा। हमारे देहाती कहानीकार राजेन्द्र अवस्थी और शैलेश मटियानी यह समझते हैं कि उन्होंने जो कुछ दिया है वही कहानी है। भीष्म साहनी शायद पुन: सहकारिता-आन्दोलन जागृत करना चाहते हैं। वे यह चाहते हैं कि हम महान् रचनाएँ दें। 'महानता'का ढोंग हमारे जीवनसे समाप्त हो गया है। हम सामान्य जीवनसे 'पाते' हैं, 'खोजते' हैं। जिस तरह ईश्वर हमारे जीवनसे मर चुका है, वैसे ही कहानीका प्लॉट भी। रमेश बक्षीकी कहानियाँ समकालीन जीवनके निकट हैं, इसीसे वे हर साल बदलती रहती हैं। यह बदलना ही जीवनको देखना है।

● नयी बात : 'कोठरीकी बात' और 'एक रात'···

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : मूर्तिको गिरा देना बड़ा आसान है पर उसे बना पाना बहुत कठिन। आधुनिकता हमें यह सिखाती रही है कि जो कुछ परम्परासे प्राप्त है, उसे ग़लत सिद्ध कर दो बस आधुनिक बन जाओगे। यह वाक़ई हमारी पीढ़ीका अभाग्य है। नया कहानीकार अपने प्रयोगोंमें कथानक या चरित्रके स्वरसे नया 'भाव-बोध' तलाशता रहा है। यह 'तलाशने'की स्थिति रेस्त्राँके कोने, कैफ़ेके कॉर्नर या जॉज़की गति या 'सिम्फ़नी'के टुकड़ेमें भी देखी जा सकती है। आप 'प्रिज़िड्यूज़्ड' हैं तो जॉज़ भले ही न आपको रुचे पर अगर अपने सारंगीके श्रवण-बोधको आप 'ट्रेण्ड' कर लें तो वाक़ई 'जॉज़' आपको आनन्द

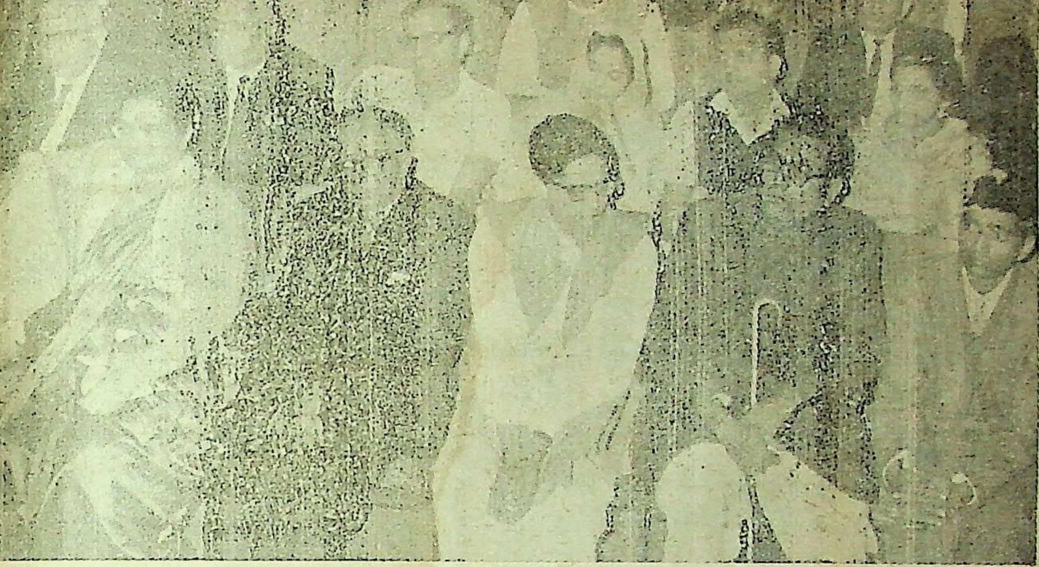

कथा-समारोहके कुछ विशेष श्रोता : साहू शान्तिप्रसाद जैन, श्रीमती रमा जैन, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, दूधनाथ सिंह, अशोक जैन, श्रीमती इन्दु जैन आदि ।

देगा । जैसे 'क्लॉसिकल संगीत' आपके पल्ले नहीं पड़ता और क्लासिकल टेस्टवाले उसे सुनकर झूम उठते हैं; वही बात नयी कहानी-के समझनेके संस्कारमें भी है । यह संस्कार आपमें परिष्कृत हो जाये तो निर्मल वर्मा आपको बहुत सहज लगने लगेगा ।

अज्ञेयकी कुख्यात कहानी 'कोठरीकी बात' और जैनेन्द्रकी कुख्यात कहानी 'एक रात' आज भी नयी है । इन दोनोंमें कोई चीज़ तलाशी जा रही थी । मुझे लेनिनके शब्द याद आ रहे हैं : 'पूँजीवादी व्यवस्थाकी देन है कि यथार्थसे ध्यानको काट दो, बस सारा समाज पंगुवत् हो जायेगा ।' पूँजीवादी व्यवस्था, टेलिविज़न, अखबार, सिनेमा आदि हमें यथार्थसे काट देते हैं । नक़ली ज़मीन पर लड़ने लगते हैं । परसाईने असली व्यापक संघर्षका उल्लेख किया था । दिन भरमें ढेरों सिगरेट पी जाते हैं, आप पचासों कप कॉफ़ी पी जाते हैं, पहननेको दर्जनों सूट हैं फिर भी आप 'मृत्यु-बोध'की नक़ली बात करते हैं । मृत्यु, वाक़ई, जो मज़दूरका भोग्य है—आप उसे छीन ले रहे हैं उससे, यह अन्याय है ।

६ कथाकार और पाठक : जिज्ञासाएँ एवं अपेक्षाएँ—छोटे-छोटे कटघरे

२६ दिसम्बर । दुपहर । आते हुए प्रश्न तथा जिज्ञासाएँ—कथाकारों द्वारा समाधानकी कोशिश । अध्यक्ष : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, हरिशंकर परसाई, श्रीमती मन्नू भण्डारी । कुछ सप्रश्न वक्ता : डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, कुन्था जैन, कृष्णाचार्य, किरण जैन, चन्द्रदेव सिंह

आदि। उत्तर : कमलेश्वर, रमेश बक्षी, शैलेश मटियानी, रवीन्द्र कालिया, शिवप्रसाद सिंह, श्रीकान्त वर्मा, राजेन्द्र अवस्थी, शरद जोशी, ममता कालिया, जैनेन्द्र कुमार।

● कुछ प्रश्न : उत्तरकी तलाशमें—

डॉ० प्रतिभा अग्रवाल : क्यों आजका साहित्यकार, जो जीवनदृष्टिका सत्य है, इस सत्यको झुठलानेका प्रयत्न कर रहा है कि उसकी अपनी भी जीवनदृष्टि है? जब वह कह रहा है कि हम आजके यथार्थको जी रहे, भोग रहे हैं और उस जीने और भोगनेके क्षणमें, जो कहनेकी मजबूरी है, उसे अपने माध्यमसे प्रस्तुत कर रहे हैं—तो क्या यही जीवनदृष्टि नहीं है? क्या इससे बचनेके लिए वह कतरा रहा है—कि हम कोई आदर्श लेकर नहीं चलते, कोई उद्देश्य लेकर नहीं चलते। हमने समाजको रास्ता दिखानेका कोई ठेका नहीं ले रखा है। विकासकी स्थिति तो स्वतः सिद्ध है लेकिन विकासके इस बिन्दुपर होकर क्या आप उसका केवल चित्रण कर रहे हैं या जागरूकता पैदा कर देना चाहते हैं? नये लोग कहते हैं कि उनकी अनुभूति तो आजकी ईमानदार अनुभूति है और बाक़ी सब जैसे बेईमान हैं। पहलेके लिखनेवालोंमें ईमानदारी नहीं है? उस मुखौटेको उतारकर फेंक दिया है?

कुन्था जैन : एक पाठिकाके नाते मैं पाठक और पाठिकाके महत्त्वको समझती हूँ। अतः मैं यह पूछना चाहती हूँ कि अति आधुनिक लेखकोंको हमारे प्रति इतनी निरपेक्षता क्यों है? अति आधुनिक लेखक अपने उत्तरदायित्वसे किनारे क्यों होना चाहता है, विशेषकर इस सन्दर्भमें कि वह जो कुछ लिखता है वह भावना-विकृति, कुण्ठा, निराशा आदिसे भरा है तो उसे उतनेपर ही छोड़ देनेसे उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता?

किरण जैन : आजके वैयक्तिक बोधमें सामाजिक दायित्व कहाँतक है? रचना-प्रक्रियाकी डायरीके पन्ने अभीतक पूरे भरे नहीं गये हैं—इसकी प्रेरणा लेखकको कहाँसे मिली? कहानी पर जो विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है उसको देखते हुए उपन्यास पर प्रकाश क्यों नहीं डाला गया?

कृष्णाचार्य : मेरी जिज्ञासा तीन रूपमें है : प्रबुद्ध पाठकके रूपमें, श्रोताके रूपमें और पाठकोंके पाठकके रूपमें : १—बहुसंख्यक हिन्दी भाषी प्रान्तके लेखक ऐसा क्यों नहीं लिखते जैसा कि दूसरे देशोंमें लिखा जाता है? व्यक्ति लिखता है, सबके हाथ नहीं लिखते। हिन्दी भाषामें अभीतक समर्थ लेखक क्यों नहीं पैदा हो सके? २—साहित्य रूपमें और युगोंमें लिखा जाता है, साहित्य कालमें लिखा जाता है, मैं यही भ्रममें हूँ। यदि साहित्य रूपमें लिखा जाता है तो उसकी उपलब्धि क्या है? आदर्शवाद और प्रगतिवादकी चर्चा होती है और लेखक कहते हैं कि हममें जो वाद है वह दूसरेमें नहीं है। जो यथार्थवादी हैं वे अपनेको किसी वादका रचयिता नहीं कहते, क्या यह उचित है? ३—बहुतसे उपन्यास लिखे जाते हैं। उनमें-से अच्छोंकी सूची बनायें तो उसकी कसौटी क्या है?

चन्द्रदेव सिंह : यह जिज्ञासा नहीं भ्रम है, ऐसा महसूस होता है। अनायास कहानी जैनेन्द्रजी की परिभाषासे कहाँ भिन्न है? रमेशजीने अनायास कहानी लिखी है या नहीं? यदि आप किसी भी चीज़ के लिए प्रतिबद्ध न भी हों पर जीनेके लिए तो प्रतिबद्ध हैं। क्या आप जो लिखते हैं उसपर विश्वास करते हैं? कहानी आ जाये तो क्या बस छोड़कर कहानी लिखने लगें।

अनाम : नयी पीढ़ी अनिवार्य रूपसे बदतमीज़ है इसका तात्पर्य क्या हम यही समझें कि आप सब अपनेको बदतमीज़ समझते हैं? नयी कहानीमें क्या बदतमीज़ीके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता? 'नयी पीढ़ी राजपथ-से जाते किसी भी व्यक्तिपर ढेला फेंकना चाहती है'—इससे आपका क्या तात्पर्य है?

● कुछ उत्तर : स्पष्ट और दो टूक—

मन्नू भण्डारी : अध्यापिकाका कार्य उत्तम है, पर इसने हमारी प्रगतिका दरवाज़ा बन्द कर दिया है। कॉलेजका रिज़ल्ट, उद्देश्य केवल विद्यार्थियोंको पास कराना ही रह गया है। प्रतिभाजी ने कहा कि हमने जीवनदृष्टि को नकारनेकी कोशिश की है किन्तु जीवन-दृष्टि प्राप्त की जाती है। वह बनानेकी चीज़ नहीं है। जीवनदृष्टि गतिमान है। यह बनी-बनायी वस्तु नहीं है, अन्तर बदलनेवाली प्रक्रिया है।

जीवन है तो जीवनदृष्टि भी है। निरन्तर अनुभवों तथा भोगमें भी वह बनती है, वह सतत् गतिवान होती है। कला बड़ी दुरूह हो गयी है। नयी कलाको समझनेमें हम असमर्थ हो गये हैं। कला ही आगे बढ़ गयी है। इन नयी कलाकृतियोंको समझनेके लिए हमें अपनी दृष्टिको परिष्कृत करना होगा। नयी कलाकृतियोंको समझनेके लिए हमें अपनी रुचिको बदलना होगा। हमें अपने संस्कारोंको बदलना होगा तभी हम नयी कलाकृतियोंको समझ पायेंगे—क्या कला दुरूह होती जा रही है या हम उन्हें समझ जाते हैं? हमें अपनी रुचि परिष्कृत करनी होगी।

हरिशंकर परसाई : नये लेखकोंकी बातें समझमें नहीं आती हैं तो वे पाठक जीवनको भी नहीं समझते, हम जो पत्रिका खरीदते हैं यह समझकर कि हमारा कुछ मनोरंजन हो, साथ ही हमें कुछ प्राप्त भी हो। साहित्य व्यापारकी चीज़ नहीं है। जो नये लेखनको नहीं समझ सकता वह जीवनको भी नहीं समझ सकता। जिनको यह साहित्य समझमें नहीं आता, वास्तवमें उन्हें जीवन ही समझ में नहीं आता। यदि जीवनमें सत्य है और हमारी चेतना जाग्रत है तो उसे स्वीकार करना चाहिए। यदि कोई यह सोचे कि यह सोनेके लिए है, ग़लती है। पाठकको सम-कालीन लेखक समझमें नहीं आता।

गंगाप्रसाद विमल : हम सदा पाँचवें पाठककी तलाश करते हैं। तीन कुशवाहा कान्तको पढ़ते हैं, चौथा पुराने साहित्यको, पाँचवाँ जो समकालीन जीवनकी समग्रताओंको समझनेकी चेष्टा करता है। यदि लोग पुल-

कित होनेके लिए साहित्य पढ़ते हैं तो उन्हें पुराना साहित्य पढ़ना चाहिए ।

जीवनकी जो यातनाएँ हैं उन्हें हम नये साँचेमें ढालते हैं, सदा पाँचवें पाठककी खोज करते हैं ।····कोई चीज़ त्रास देती है तो वह नये सन्दर्भ-शास्त्रको जन्म देती है ।

दूधनाथ सिंह : जीवनमें हम इनवाल्ड हैं, उसमें हमारा पार्टिशिपेशन है । यदि हममें लेखकीय और रचनात्मक समझ है तो हमपर यही असर पड़ा है कि व्यक्तिके सुख-कल्याण मे अनेक प्रकारकी बाधाएँ हैं । हमारे सामने भी चुनावकी समस्या है, कि अपना सुख महत्त्वपूर्ण है या समाजमें जिस तरहकी चीज़ें हैं वह । हमारे चुनावमें ग़लती हो सकती है कि वह पाठकोंको पसन्द न आये लेकिन वे ज़िम्मेदार हैं कि उन्होंने महत्त्वपूर्ण परिस्तिथियोंको चुना है । ईमानदार व्यक्तिके लिए भी सफ़रिंगके रास्ते बनाती है। सफ़रिंगके लिए कोई शर्त नहीं, उसी तरह रचनाके लिए नहीं । उद्देश्यहीनता हमारा लक्ष्य नहीं है । उद्देश्यहीनताका तात्पर्य यही है कि पुराने लेखक जिस ढंगसे उद्देश्यको प्रेषित करते थे वैसा हम नहीं करते । हम परिस्थितिको आपके सामने रख देते हैं । हम पाठकोंके जागरूक होनेका विश्वास करते हैं । प्रत्यक्ष युद्ध नहीं देखनेसे बहुत सारी विडम्बनाएँ बढ़ीं। हमारी कुण्ठाएँ और निराशाएँ युद्धवाले देशों से अलग हैं । हमलोग तो दबावसे सैण्डविच बने हुए हैं । रोटी-रोज़ी-कपड़ा हिन्दुस्तानके लिए छोटी समस्या नहीं है ।

जैनेन्द्रकुमार : जितने यहाँ आये थे सब कला-गुरु थे, स्नातक थे । प्रश्न उससे किया जाता है जो जानकार माना जाता है । उम्रके बढ़नेके साथ जानकारी तो नहीं बढ़ती जाती है । कहानी लिखी हैं, कहानी जानता नहीं । जो कहानीको जान जाते हैं वे कहानीको इतना झुका देते हैं कि वह दब जाती है । जहाँतक दृष्टिका प्रश्न है वहाँ मैसकुलीन और फ़ेमनीनका समावेश होता है, वहीं सृष्टि होती है । आजकी शैलीमें ग्रियनेश ऐसी आती जा रही है कि कुछ कहने को नहीं रहा । विद्वता सृष्टिकी दृष्टिसे बहुत भयंकर है । अनादार—आदरसे अलग रहनेका मार्ग है, उससे सृष्टि नहीं हो सकती । मैं—मैं को लेकर नहीं जी सकता । अपनेपनके पहरेपर जो रहता है वह ग़लत है । परम्पराको यदि आप छोड़ दें तो सारी सम्प्रेषण-शक्ति समाप्त हो जायेगी । हमारे जितने प्रशंसक हैं वे हमें एक-दूसरेके सम्पर्कमें लाते हैं । जहाँ हम इच्छाको ही कहें कि मैं हूँ तो यहाँ मालूम पड़ता है कि अपनी सार्थकता दूसरेकी सार्थकता ढूँढ़ने-उद्देश्यमें ही रह जाता हूँ ।

मैंने भाषा, प्लॉट, क्लाइमेक्सके सम्बन्ध में जाननेके लिए समय बरबाद नहीं किया । मैं अपनी कहानीमें अनावश्यक कुछ नहीं लाना चाहता । इण्डिसीप्लीनमें-से ही अगाध सत्ताकी भावना उत्पन्न होती है ।

रमेश बक्षी : मुखौटा नयी पीढ़ीके लेखकने उतार लिया है या समाजने जो मुखौटा लगाये थे उसे उतार दिया है । नयी पीढ़ीका कोई भी लेखक कभी मुखौटा पहनकर नहीं आया । उसे इसकी आवश्यकता भी कभी नहीं हुई है । ऐसा ज़रूर लगा है कि जिस वातावरणमें

हम फँसे हुए हैं उस वातावरणसे मज़ा पानेके लिए कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। कभी सर उठाना पड़ता है, कभी परिश्रम उठाना पड़ता है, यह अलग बात है। यह एक अलग बात है कि पैर हिलायें, वह किसी दूसरेको लग जाये लेकिन यह कोई इण्टेन्सनली किया जा रहा हो ऐसी बात नहीं है, यह मैं समझता हूँ। एक बात ईमानदारीकी है। मुझे खुद ज़रा अजीब लगता है जब कई बार अभियोगी की तरह खड़े होकर यह कहना पड़ता है कि मैं ईमानदार हूँ, तब यह बात निश्चित लगती है कि लोग मुझे इतना अण्डरस्टैण्ड नहीं कर रहे हैं। इससे ज़्यादा मिस-अण्डरस्टैण्ड कर रहे हैं। दूसरे लोगोंके मनमें जो मिस-अण्डर-स्टैंडिग है उसकी परवाह किये बिना ही अपनी पीढ़ीको ओरसे मैं बोलता हूँ कि मैं ईमान-दार हूँ।

दूसरे, ईमानदारीकी बात कई सतहों और परतोंवाली हुआ करती है। किसी एक कुरसी पर बैठते हैं तब एक तरह की, और चलते हैं तो दूसरी तरहकी ईमानदारी होती है। और मैं समझता हूँ कि ईमानदारी कई तरहकी होती है। कोई अधिकारी है और उसे अपनी प्रतिबद्धताके अनुसार बेईमानी करनी पड़ती है। और उस बेईमानीको अगर वह ईमानदारीके साथ निभा देता है तो वह अधिकारी ईमानदार है बेईमान नहीं। कई बार कई स्थितिमें रहते हुए वैसा करना पड़ता है। साधारणत: जिस पारिवारिक और सामाजिक ढर्रेमें रहते हैं, कहीं किसी शान्त होटलमें चले जाते हैं, अच्छा नहीं लगता। वहाँ अगर कोई ग्लास टूट जाता है तो वह वातावरण अपना हो जाता है। वहाँ कुछ गड़बड़ हो जाये तो उस होटलमें हम बड़ी व्यवस्थिति अनुभव करते हैं और ऐसा लगता है कि यह कहीं हमारी मन:स्थितिके अनुकूल है। ऐसी अनु-कूलता भी कहीं ज़रूरी होती है, यदि अव्य-वस्था है, शौक़िया नहीं है। इस वातावरणसे जनमी हुई है। ऐसा मुझे लगता है। लगातार विकसित और मेच्योर होते रहना बड़ी भारी चीज़ है। एक बार परेशानीसे भागकर डायरीमें एक पंक्ति लिखी थी कि मेरा दर्द मेच्योर हो गया है, अब मैं बेहतर लिख सकता हूँ। यह मेरी ईमानदारी है कि मृत्युको मैंने ढोंगके रूपमें सहा है लेकिन वह इतनी अधिक नज़दीक ही लगी कि कई बार ऐसा लगता है कि आत्महत्याके मैं दायें-बायें हूँ। इतनी नज़दीक है कि ज़रा-सा मैं अपनी जगहसे डिगा कि आत्महत्या करनी पड़ेगी। ईमानदारीसे कई बार पलायन बहुत बुरा लगता है। लेकिन ऐसा भी होता है कि अगर हम पलायन न करें तो वह सबसे बड़ा पलायन होगा। जिस जगहको हम बर्दाश्त नहीं कर सकते उस जगहसे हम अगर पलायन नहीं करते, भागते नहीं हैं और भागते हुए नहीं रहते हैं तो एक जहगसे दूसरी जगह नहीं भागते हैं, और उस भागनेको अनवरत सहते रहते हैं तो शायद वह सबसे बड़ा पलायन है। इसलिए भागते रहना पलायन नहीं है। हर चीज़को वैसाका वैसा भोगनेमें एक सहजता होती है। वह विद्रोहवाली हो या घृणावाली हो या नाराज़ीवाली हो। किसी घुमाव-

फिरावकी ज़रूरत नहीं। पीढ़ीकी जीवनदृष्टिको समझा जा सकता है, कोई चाहे तो पन्द्रह या पचीस रुपयेका स्टाम्प-पेपर ले आये, उसपर लिखकर यह बात दी जा सकती है। अनायासतासे आशय मेरा था कि उसमें प्रयत्न नहीं है, कहीं सबेरे उठकर चहलक़दमी की और वह सारीकी सारी लिख दिया। वह सहज और अनायास होती है। जहाँ प्रयत्न होता है वहाँ शिल्प और तन्त्रकी बोधवाली चीज़ें आ जाती हैं।

जहाँ तक बदतमीज़ीका सवाल है, मैं स्वीकार करता हूँ कि हूँ और इस बदतमीज़ीकी एक परिभाषा है, वह यह है : तमीज़ नामकी वह चीज़ जिसे इनवर्टेड कामामें लिखते हैं और ज़बरदस्तीके मैनरनिज़म और औपचारिकताका नाम देते हैं, यह तमीज जिसकी बहुत अच्छी क्रीज होती है, वह कहीं नहीं है। बदतमीज़ीसे तात्पर्य उन पुराने दायरोंको तोड़नेसे है और वे दायरे टूटते हैं तो हम अनायास-रूपसे सामने आ सकते हैं।

ढेले फेंकनेसे तात्पर्य है जिस राजपथपर नये और बेहतर क़िस्मके लोग चल सकते हैं उनपर अगर कोई बहुत ही पुराना व्यक्ति चलकर राजपथको खराब करता है तो उस व्यक्तिको हटानेकी बात मनमें आती है। और ढेला फेंकनेकी बातसे तात्पर्य किसीका सिर तोड़नेसे नहीं, मेरा आशय तो केवल इतना है कि उस आदमीको चौंका दिया जाये। उसको डिस्टर्ब करनेसे तात्पर्य है। उन्हें सिवा डिस्टर्ब कर देनेके मेरा और कोई आशय नहीं है। और मैं ऐसा करना भी नहीं चाहता।

७ समापन : जीवन्त मंचकी प्रतिष्ठा

२६ दिसम्बर। शाम सात बजे। समापन-समारोह। अध्यक्ष : भँवरमल सिंघी, कल्याणमल लोढ़ा, लक्ष्मीचन्द्र जैन। वक्ता : वृन्दावनलाल वर्मा, विष्णुकान्त शास्त्री, अक्षयचन्द्र शर्मा, रमेश बक्षी, चन्द्रदेव सिंह, भीमसेन त्यागी, परमानन्द चूड़ीवाल, सीताराम सेकसरिया।

● कहानी हज़ार वर्षों तक जीवित रहेगी....

वृन्दावनलाल वर्मा : आदर्श क्या है, उद्देश्य क्या है तथा शिल्प क्या है? कहानीके बारेमें कई बार कहा गया कि कहानी मर गयी, पर कहानी हज़ारों वर्षोंतक जीवित रहेगी और चलेगी। कहानी किसी-न-किसी उद्देश्यसे लिखी जाती है। वृहस्पति-सूत्रमें एक आदर्श है : शिल्पी पहले हथौड़ा ले और काफ़ी सोच-विचार ले कि किस प्रकार हम अपनी कलामें सफल होंगे तब हथियार उठाये। फ़ारसीमें कहा गया है कि बिना खुदाकी मरज़ीके कुछ नहीं हो सकता। कुछ ऐसा पूछा गया है कि आदर्श क्या है? मेरा विश्वास है कि बिना आदर्श और उद्देश्यके कहानी नहीं लिखी जा सकती लेकिन उद्देश्य शासन करता है और

बिना उद्देश्यके कुछ नहीं हो सकता। कहनेको जब हम खड़े होते हैं तो सभी बातें कह जाते हैं। देखना यह चाहिए कि उसमें उद्देश्य तथा शिल्प क्या है। ये बातें कहानीकारके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। आलोचक लेखकोंकी कमर तोड़ देता है। बीस साल, चालीस साल और साठ सालमें इतिहास नहीं लिखा जा सकता। आदमी पैदा हुआ, ज़िन्दा रहा और मर गया—यही इतिहास है। लोगोंने जो मानव-विकासकी चीज़ें लिखी हैं वही सच्चा साहित्य है। जो मानव-विकासको गिराये, वह ग़लत है। कोई भी काम बिना उद्देश्यके नहीं होता। हमारी संस्कृति 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' से आयी है। इनमें-से दो चीज़ें तो ध्यानमें आती हैं परन्तु तीसरी चीज़, मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलो, समझमें नहीं आती।

समारोहके संयोजक और सहायक। भारतीय संस्कृति संसद्के अध्यक्ष—सीताराम सेकसरिया। कर्मसचिव जगमोहनदास मूँधड़ा। परमानन्द चूड़ीवाल। भँवरमल सिंघी।

● बड़ी मुश्किलसे होता है चमनमें दीदावर पैदा…

विष्णुकान्त शास्त्री : बड़े मनीषियोंकी बातोंसे बड़ी उपलब्धि होती है। उन्हें छोटे रूपमें एक बारमें समेट लेना जादूगरी होगी और मैं अपनेको इसमें समर्थ नहीं पाता। कुछ बातें स्पष्ट मैं जरूर करूँगा कि कहाँतक उनकी उपलब्धियाँ मानी जायें। उद्घाटन गोष्ठीमें शीलकी भावना रही है और इसमें दूसरोंको ठेस पहुँचानेकी चेष्टा नहीं की गयी है। जैनेन्द्रजीने अपनी बात स्पष्ट करते हुए यह बताया कि कहानी चर्चा करनेका विषय ही नहीं है। उसको जाननेका जितना प्रयास किया जायेगा उतनी ही अनजान बनती जायेगी—यह सब

'बच्चन' का लोकप्रिय साहित्य

अभिनव सोपान	१५·००	मरकत द्वीप का स्वर (प्रेस में)			
दो चट्टानें	७·००	मिलन-यामिनी	३·५०	बंगाल का काल	२·००
चार खेमे चौंसठ खूंटे	४·००	सतरंगिनी	३·००	मैकबेथ	३·००
त्रिभंगिमा	४·००	एकांत संगीत	२·९०	ओथेलो	३·५०
आरती और अंगारे	४·००	हलाहल	२·५०	६४ रूसी कविताएं	३·००
धार के इधर-उधर	२·२५	बुद्ध और नाचघर	३·००	जन गीता	२·००
सूत की माला	३·००	निशा-निमंत्रण	२·५०	खैयाम की मधुशाला	२·५०
खादी के फूल	३·००	मधुबाला	२·००	सुमित्रानंदन पंत	२·००
आकुल अंतर	२·५०	मधुशाला	२·००	कवियों में सौम्य संत	५·००
प्रणय-पत्रिका	२·५०	मधुकलश	२·००	नये-पुराने झरोखे	४·५०

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

बातें अच्छी बातें हैं और इसीके कारण टकराहट शुरू हुई । जीवनदृष्टिको नये कहानीकार स्वीकार नहीं करते । संश्लिष्टिकी बात करना ग़लत है । यह संश्लिष्टनिष्ठा क्या जीवनदृष्टि नहीं है । कहानीके बारेमें कुछ जानना नहीं चाहते । भगवतीचरण वर्मा भावनात्मक आदान-प्रदान पर बात करते हैं और उनके लिए यही मुख्य बात है । वास्तवमें जो बड़े विचारक हैं उनकी दृष्टि, जो अपनी दृष्टिमें सिमट पाये, उसे ही महत्त्व देते हैं । कहानीकी गति ही कहानीको बनाती है । मनोरंजन भी कहानीको अच्छा बनाता है । कहानी मनोरंजन करे या साहित्य मनोरंजन करे और उसके द्वारा साहित्यकारोंको ठेस लगे यह बात उनको ठेस पहुँचाती है । पेशेवर साहित्यकार जब इसे पेशेके रूपमें अपनाये तो उसे मनोरंजनका ध्यान अवश्य रखना चाहिए । नये कवियोंने युग-निर्माताकी ख्वाहिशको स्वतन्त्र नहीं किया है । कहानी कथाकी माँगका एक तत्त्व है । कमलेश्वरने कहा कि नये साहित्यकार जीवनदृष्टिसे साहित्यकी ओर जाते हैं और यह वास्तवमें अभिनन्दनीय है । नयी कहानी एक विकास है और इसका रूप हम प्रेमचन्दमें भी पाते हैं । आलोचकों और अध्यापकोंके प्रति नयी पीढ़ी द्वारा उपेक्षाकी भावना व्यक्त करना ठीक ही है क्योंकि आलोचकोंको, स्रष्टाका रूप नहीं मिल सकता, क्योंकि बड़ी मुश्किलसे होता है चमनमें दीदावर पैदा....।

● आधुनिकता, अनास्था और नयी कहानी...

अक्षयचन्द्र शर्मा : कथाकारोंने जो कुछ कहा, कुछ पढ़े हुए शब्दोंमें और कुछ अपने मनसे । मैं अपनी मन:स्थितिके लिए कुछ कहूँगा तो ज़रूर, कथाकार मुझे माफ़ करेंगे । समकालीन शब्दकी व्याख्या नहीं हो पायी । वर्तमान एक शब्द है और समकालीन दूसरा । जब हम किसानसे बदलकर शहरमें आये तो कहने लगे कि हम आधुनिक हैं । जैनेन्द्रजीने कहा कि जो व्यक्ति आगे बढ़े वह नया बन जाता है और आगे चलकर अकेला हो जाता है तथा वही समकालीन कथाका व्यक्ति होता है । आधुनिक कथाबोधको समझनेके लिए हम सबसे हटकर एकाकीपनसे चलते हैं । हम व्यक्तिमें समाज देखना चाहते हैं यह दूसरी बात है । नयी कथाकी व्याख्या नहीं हो पायी है । 'नया' शब्द दिशाका कालबोध भी नहीं करता । मन की स्थितिको लेकर यह 'नया' शब्द चलता है । आधुनिकताके लिए यह ज़रूरी है कि उसमें आस्था न हो । आजकी कहानीमें उच्छेदवाद है । आजका कहानीकार अनास्थाके स्वरमें भी लिखते हैं, यह उनकी आस्थाका प्रमाण है । आधुनिक कथाबोध अपनेको नये-नये रूपोंमें भोग रहा है । आप स्वयं अपना परिवेश बनाते हैं । नयी कहानीकी विशेषता है विघटन—विश्लेषण आदि सभी बन्धनोंको तोड़ देना । आपने किसी चीज़को एक रूपमें कहा, हमने उसीको दूसरे रूपमें । दो पीढ़ियोंकी भाषा है साठ और तीन बीस । दूरतक टूटते हुए क्षणोंमें जो श्रृंखला बैठी है वही इसे अपनी जगहपर पहुँचाती है ।

भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रवर्तित

अपने प्रकार की अकेली
और महत्त्वपूर्ण
लेखन-प्रकाशनकी अधुनातन दिशा-प्रवृत्ति
और उपलब्धि-परिचायिनी
मासिकी

ज्ञानपीठ पत्रिका

सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : : जगदीश

गत तीन वर्षोंसे प्रकाशित हो रही 'ज्ञानपीठ पत्रिका' हिन्दीमें अपने प्रकारका प्रथम प्रयास है, और कदाचित् अन्य भारतीय भाषाओंको देखते हुए भी; जिसका प्रयत्न एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत करनेका है जो लेखक-प्रकाशक-विक्रेता-पाठक चारोंके 'अक्षर-जगत्'की गतिविधि, नयी प्रवृत्तियों, समस्याओं एवं समाधान, और विकास-उन्नतिकी दिशा-भूमिका सम्यक् परिचय दे, तथा परस्पर विचारोंके आदान-प्रदानका पथ प्रशस्त कर सके।

मूल्य : वार्षिक ६.००, ००.५५ प्रति
द्विवार्षिक ११.००

प्रधान कार्यालय : ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन एवं वितरण कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

[एजेण्ट सम्पर्क स्थापित करें]

● समीक्षा-समस्या अपने आपमें समस्या...

रमेश बक्षी : विश्वविद्यालयोंमें जो पढ़ाई होती है उसमें समीक्षा स्पष्ट नहीं होती। समीक्षाकी जगह हमें अलग दिखाई देती है। परन्तु हम सीमा-रेखाके कारण बोल नहीं पाते। यह कथा-समारोह अखाड़ा नहीं था, स्वर अगर उग्र हुए तो कोई बात नहीं। डॉ० देवीशंकर अवस्थीने पहले कहा। यह बात पहले दशक के बारेमें भी होनी चाहिए थी। तीस-चालीस के दशकमें क्या बात रही और यथार्थकी खोज किन-किन बातोंमें हुई। यथार्थके सन्दर्भके लिए एक बातकी भूमि अवस्थीजीने दी थी। श्रीकान्तके भाषणसे कुछ गरमी आयी। इन्होंने कहा कि इतिहास पीढ़ी बनाती है और पीढ़ी ही तोड़ती है। यह क्रम चलता रहता है।

कथाके कौशलमें ह्रास होता जा रहा ऐसा उन्होंने कहा। केवल कुछ संकेत देना चाहते हैं ताकि बातोंको आगे बढ़ाया जा सकता है। उखड़ने और उखाड़नेकी बात देखी जायेगी। जेबी आलोचकोंका जवाब कमलेश्वरने दिया है। वृन्दावनलाल वर्माने कहा कि कहानीको कैसा होना चाहिए। सभी बातें इससे सामने आयीं परन्तु स्पष्ट नहीं हुईं। समीक्षाके इतिहासमें बड़ी गड़बड़ी व्याप्त है। नया प्रोफ़ेसर नयी चीज़ें प्रस्तुत नहीं कर सकता है। नयी पीढ़ीके जो अप्रकाशित संग्रह हैं यदि वे सामने आयें तो समीक्षाके लिए कुछ चीज़ सामने आये।

● समकालीनता, ईमानदारी और प्रश्नचिन्ह...

चन्द्रदेव सिंह : समकालीनबोध-गोष्ठी काफ़ी सफल रही। नये लेखकोंकी बातें हमें काफ़ी ठीक लगीं। जब हम उस दानीके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं, और उसकी बुराई करते हैं तो यही नयी बातें हैं। आज हम जो कुछ कहते हैं उसके प्रति ईमानदार नहीं है।

यदि आधुनिक जीवनको जीते हुए कुण्ठाओंका बोध होता है तो ग़लत है। हम विश्वके स्तरपर सोचते हैं तो हम उससे सम्प्रति नहीं रह सकते—दुनिया आज छोटी है। पुरानी पीढ़ीके विरोधमें जो बात कही, वह ठीक नहीं थी, क्योंकि वह समकालीन नहीं थी, इसलिए हम उसे समकालीन नहीं कह सकते। अपनेसे भय करनेकी भावना आपको किसने दी? आपके अन्दर वह शक्ति नहीं तो आप लड़ेंगे क्या, आप किस बूतेपर अपनेको आधुनिक होनेका दावा करेंगे?

● गोष्ठीका रूप अवान्तर...

भीमसेन त्यागी : शैलेश मटियानीने समयकी परम्पराको तोड़कर जो शुरुआतकी वह ग़लत थी। राजेन्द्र यादवने जो आधार-भूमि दी उसी के आधारपर उसकी बात कही गयी। यदि श्रीकान्त सभी लेखकोंपर विषयको बनाये रखते तो गोष्ठी बनी रहती।

निमकी बनाने के लिए
आटा छान लीजिए
नमक और थोड़ी वनस्पति मिलाकर इसे दूध के साथ सान लीजिए।
अब इसे अच्छी तरह गूंधिए।
छोटी-छोटी पेड़ियां बनाकर उन्हें बेल लीजिए और फिर गर्म वनस्पति में तल लीजिए।
लीजिए, स्वादिष्ट और जायकेदार निमकी तैयार हो गयी।
उत्तम एवम् स्वादिष्ट भोजन बनाने के लिए हनुमान वनस्पति पर ही भरोसा रखें।
भोजन बनाने का श्रेष्ठ चिकनाई माध्यम
हनुमान
वनस्पति
HANUMAN
निर्माता :
रोहतास इन्डस्ट्रीज लिमिटेड
डालमियानगर (बिहार)

● कथा-समारोह : एक उपलब्धि…

लक्ष्मीचन्द्र जैन : सिंह हो तो अवलोकन करे। बड़े-बड़े सिंह अवलोकन कर चुके हैं। सारे कथा-समारोहकी उपलब्धिके बारेमें मैं कुछ कहूँगा। कलकत्तेको यह अनुभव हुआ है कि साहित्यमें जिस तरह कहानीने उपलब्धि प्राप्त की है, यह कथा-समारोह भी उसकी एक विशिष्ट उपलब्धिकी तरह है। नयी पीढ़ीके व्यक्ति और आदि व्यंजनाओंके व्यक्ति भी कथा लिख रहे हैं। और उन्होंने इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है वह अच्छा कहा है। यह कलकत्तेवालोंकी नयी उपलब्धि है कि हमने अपने प्रेमी साहित्यकारोंके दर्शन किये और उनकी बातें सुनीं। जिन साहित्यकारोंकी पुस्तकें हम पढ़ते हैं उनके बारेमें यह सोचते भी हैं कि वह साहित्यकार कैसा है? जो कथाकार यहाँ उपस्थित हुए हैं उन कथाकारोंका साहित्य भी यदि हम यहाँ रखते, कि उन्होंने क्या-क्या लिखा है और उसमें क्या है तो इन साहित्यकारोंको भी मालूम होता कि उनके साहित्यकी कितनी माँग है। इस कथा-समारोहके आयोजनमें सफल हुए और इसमें आपने हमें जो सहयोग दिया उसके लिए हार्दिक धन्यवाद।

● पुरानी ज़मीन और नया कथाकार…

भँवरमल सिंघी : पहले लोग कहते थे कि पाँच तोला कहानी चूर्ण मिलानेसे ही कहानी बन जाती है।

जीवन्त मंचकी प्रतिष्ठा हुई कि विचारोंका आदान-प्रदान हो सके। हमने कहानीकारोंकी कहानियाँ सुनी हैं, जो कहानी लिखते हैं। जितने महारथी यहाँ आये हैं उनका टकराना स्वाभाविक ही है। जो लोग कहते हैं कि यह तीतर-बटेरकी लड़ाई है या केवल एक नाटक है, यह ग़लत है। पहले भी लोग लड़ते थे। पुरानी पीढ़ीको मरना है और नयी पीढ़ीको जन्म लेना है। पुराने साहित्यकारोंने हमें चिन्तन दिया है, उन्हें नये साहित्य कुचल रहे हैं। संघर्ष और समन्वय सदासे चलते आये हैं। समन्वयसे इतिहास बढ़ता नहीं। संघर्षसे बढ़ता है। जीवनके जो उपकरण बदले हैं उन्हें नया साहित्यकार अपनी भाषामें बोलता है। सड़ी हुई मिट्टीमें नया कहानीकार दबना नहीं चाहता। वह अपने लिए पुरानी ज़मीन तोड़कर नयी ज़मीनका निर्माण करना चाहता है और कर रहा है। नये कहानीकारोंमें जीवनका सच्चा रूप झलकता है। नये कहानीकारोंने हमें जीवनकी नयी दृष्टि दी है। जीवनमें वह जो कुछ देखता है उसे ही चित्रित करता है। उसकी रचनाओंमें यथार्थकी झलक हमें मिलती है। समारोह लड़ाई या नाटक नहीं था, यह यथार्थ था।

● नये कहानीकारकी सामर्थ्य : परिपक्वता…

कल्याणमल लोढ़ा : आजके कहानीकार यह सोचते हैं कि हम उनके अवरोधमें हैं, यह

ग़लत है। इतिहास हमारे सामने दो रूपोंमें आता है। आजका युग १९१४ का युग नहीं है, आजके कहानीकारको बढ़ावा देते हैं। युग बदलती हुई परिस्थितियोंका होता है, मनुष्यका नहीं। कोई कथाकार समकालीन रुचिकी अवहेलना नहीं कर सकता। यथार्थ शब्द गुमराह है। आजके यथार्थमें और पहले- के यथार्थमें अन्तर है। कहानी मस्तिष्ककी उपज है, ऐसा कहा गया है। आज व्यक्तिमें समाज है। समाजमें व्यक्ति होनेकी परम्परा खत्म हो गयी है। आजके नये कहानीकारकी समर्थता परिपक्वताकी बहुत बड़ी देन है। इस समारोहमें व्यक्ति सामने आनेपर सिद्धान्त गौण हो गये।

● नये सत्यको आप रोक नहीं सकते हैं...

सीताराम सेकसरिया : समारोहकी सारी व्यवस्था आपने देखी। संघर्षोंके अन्दर यह समापन हो सका। जिन चेहरोंको आप यहाँ देख रहे हैं वे जहाँसे आये हैं वहाँ चले जायेंगे। पर बहुत-से चेहरे, जो यहाँ नहीं आये हैं, उन्होंने भी बहुत सहयोग दिया है। समाजमें एक नया विकास लानेके लिए संसद् सदा एक नयी चेष्टा कर रही है। वह कहाँ तक अपने उद्देश्यमें सफल हो रही है यह आप जानें। हमारा उद्देश्य हिन्दी-भवन बनानेका है। हमारा हिन्दी-भवन बन जाये तो हम आपको वहाँ ठहरायें और आपका स्वागत अब दूसरी बार उसीमें करें, ऐसी मेरी अभिलाषा है। आप लोग यहाँ आये, इसके लिए हम आपके आभारी हैं। आप लोगोंने जो विचार दिये हैं उन्हें सुननेकी हमारी इच्छा थी। इसमें आपकी और आपके विचारोंकी सफलता है। जीवित साहित्यमें नया और पुराना क्या? जो व्यक्ति बैलगाड़ीपर चढ़ा था वह अब हवाई जहाज़में चढ़ता है, इसे हम नया नहीं कहते। जो नया सत्य प्रकट हो रहा है उसे आप रोक नहीं सकते। सब लोग बदले हैं, रंग बदला है, समाज बदला है, आजकी सभी चीज़ें बदल रही हैं, इसे हमें स्वीकार करना पड़ेगा। समुद्रमें लहरें उठती हैं और हर आनेवाली लहर पुरानी मानी जाती है। पत्ते गिरते हैं और फिर नये पत्ते आते हैं पर यह सब क्षणिक नयापन है। जहाँ क्षणमें प्लॉट बदलते हैं वहाँ नया और पुराना क्या? तुलसीदास जीता है क्योंकि उसका साहित्य अमर है। समय बदलता है साहित्य नहीं। हम नये साहित्यका स्वागत करते हैं परन्तु पुराने साहित्यका अपमान करनेका अधिकार हमें नहीं। शरीर हमारा वही रहेगा, कपड़े बदलेंगे। नये कथाकारका मूड होटलमें बनता है ड्राइंग-रूममें नहीं। पुराना आदर्श खत्म हो गया है। अब वे पुरानी बातें नहीं रहीं। हमें जो अच्छा लगे वह नया है और जो अच्छा न लगे वही पुराना है। जहाँ दो-चार वर्षमें ही अन्तर होता है वहाँ किसे नया और किसे पुराना कहा जाये। अन्तमें मैं आपको संसद्की ओरसे और अपनी ओरसे धन्यवाद देता हूँ कि आपने अपना अमूल्य समय देकर हमें कुछ दिया और कुछ अपने लिए भी सँजोया।

[समारोहकी ध्वनि-लिपि विट्ठलदास मूँधड़ाके सौजन्यसे प्राप्त हुई और इसे शब्दशः प्रस्तुत करनेमें सहयोग दिया रंगनाथ राकेश, कृपाशंकर सिंह तथा आद्याप्रसाद त्रिपाठीने—सम्पादक]

११ जनवरीको हिन्दीके समर्थ आलोचक डॉ० देवीशंकर अवस्थी दुर्घटना-ग्रस्त हो गये थे और दुर्भाग्य कि १३ जनवरीको प्रातः उनका निधन हो गया। अवस्थीजीने नयी पीढ़ीको सबसे अधिक समझा था.......यह अब समझमें आ रहा है........

डॉ० देवीशंकर अवस्थी

(१९३०–१९६६)

२५ दिसम्बर १९६५, प्रातः ९ बजे : (ऊपर बायें) कलकत्ता कथा-समारोहकी समीक्षा-गोष्ठी : 'सारी कथा-प्रगतिको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखना होगा तभी ठीक-ठीक समीक्षा की जा सकेगी। कहानीका बादका स्वर जो उभर रहा है, वह बदला हुआ है।'

वही दिन, दोपहर ५ बजे : (ऊपर दायें) 'समकालीन बोध और दायित्व' का सन्दर्भ : 'मैंने नयी पीढ़ीके लिए, उभरते हुए स्वरके लिए जो रेखा खींची थी, वह हॉरीज़ेण्टल थी, वर्टीकल नहीं। मैंने उभरते हुए स्वरको रेखांकित करनेका प्रयास किया था, उसे काटकर अलग करने-का नहीं।'

हिन्दी साहित्य सम्मेलनके साहित्यिक (मासिक) प्रकाशन

माध्यम

की

मई १९६६ को	गौरवपूर्ण परम्परामें	अपनी प्रति आज ही
प्रकाशित हो रहा है	नयी कड़ी	सुरक्षित करा लें

केरल विशेषांक

उत्तरापथ और दक्षिणापथका सांस्कृतिक सेतु : भावात्मक एकताका प्रतीक

केरलकी समसामयिक काव्यधारा, कथा-साहित्य, नाटच-विधा, लोक-संस्कृति, शिल्प और कला, केरलीय समाज-परम्परा और प्रचलन; केरलकी सन्तधारा; केरलीय संस्कृत साहित्यकारोंकी देन; केरलमें इस्लाम तथा यहूदी धर्म; केरलीय दर्शन, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र तथा मलयालम भाषा और लिपिके परिचयके साथ मलयालम कविताओं, कहानियों तथा अन्य विधाओंसे सुसज्जित।

इस **केरल विशेषांक** के कुछ प्रमुख लेखक

सर्वश्री ए० चन्द्रहासन, पी० नारायण, अब्राहम जेकब, एस० वेंकटसुब्रह्मण्य अय्यर, विश्वनाथ अय्यर, किलिमानूर एन० विश्वम्भरन्, टी० भास्करन्, ए० श्रीधर मेनन, के० नारायणन्, एम० चन्द्रशेखरन नायर, वी० ए० केशवन नंपूतिरि, आर० रामन नंपूतिरि, एन० पुरुषोत्तम मल्लय्या, रवि वर्मा, रामचन्द्र देव, जी० शंकर कुरुप, पी० कुंजुरामन नायर, वेलोप्पिलि श्रीधर मेनोन, अक्कित्तम् अच्युतन नंपूतिरि, तकाषी शिवशंकर पिल्ला और श्रीमती बालामणि अम्मा तथा सुगत कुमारी।

केरलीय साहित्य, संस्कृति, कला और दर्शनका यह सन्दर्भ-ग्रन्थ
अवश्य पठनीय और संग्रहणीय है

सम्पादक : बालकृष्ण राव

मूल्य : एक अंकका १.००; वार्षिक १०.००; इस विशेषांकका २.५०

३१ मार्च १९६६ के पूर्वके वार्षिक ग्राहकोंको इस विशेषांकका
पृथक् मूल्य न देना होगा।

पो० बा० नं० ६० इलाहाबाद	सम्पादकीय	माधयम सम्पर्क-सूत्र	व्यवस्थापकीय	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

कथा-समारोह

: कुछ और बिन्दु

कनुसे कनुप्रिया :
'मन्त्र पढ़े बाण से
छूट गये तुम तो कनु,
शेष रही मैं केवल
काँपती प्रत्यंचा सी···'

● **कनुप्रिया** : कथा-समारोहके अवसरपर २५ दिसम्बर १९६५ को रात्रि डॉ० धर्मवीर भारती लिखित कनुप्रियाका नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किया। शिक्षायतनकी छात्राओं-द्वारा प्रस्तुत 'कनुप्रिया' को प्रशंसाका श्रेय उसके भावमय अभिनय और प्रभावोत्पादक प्रस्तुतिको है। वियोगिनी राधाके रूपमें प्रतिभा शर्माके अभिनयकी विशेष सराहना की गयी।

● **स्मारिका** : कथा-समारोहके अवसरपर भारतीय संस्कृति संसद्-द्वारा एक पुस्तिका भी प्रकाशित की गयी थी। उसके 'कथा-सूत्र' में यह अपेक्षा ज़ाहिर की गयी है कि इस समारोहमें 'कथा-सर्जक, समीक्षक व पाठक तीनों ही एक मंचपर साथ बैठकर चर्चा करें और विचारोंका आदान-प्रदान करें। हमारे आयोजनकी सार्थकता तो इसी बातमें है कि इन सबपर विचार हो, जिससे कथा-प्रवाह कुछ और गति, कुछ निश्चित दिशा पा सके।' इस पुस्तिकामें भारतीय संस्कृति संसद्की गतिविधियोंका ब्यौरा भी दिया गया है और 'कथा की कहानी : अकहानी तक' शीर्षक लेखमें श्री अक्षयचन्द्र शर्माने कहा है : 'आजकी कहानी जीवनकी जटिलताओं व संकुलताओंसे जूझ रही है। भावबोध और सौन्दर्य-बोधके नये स्तरोंको पानेके लिए अधीर है। कथ्य बदले हैं अतः कथनके ढंग बदले हैं।'

● **सहायता** : भारतीय संस्कृति संसद्के अध्यक्ष श्री सीताराम सेकसरियाने यह घोषणा की कि अपनी बीमारीसे जूझते हुए रुग्ण तथा ज़रूरतमन्द साहित्यकारोंको संसद्की ओरसे छह हज़ार रुपये प्रतिवर्ष, आगामी पाँच वर्षों तक, दिये जायेंगे। ये तीस हज़ार रुपये साहित्यके प्रति संसद्की सहज सद्भावना हैं।

● **आभार** : समारोहके अन्तमें अभ्यागतों-द्वारा श्री जैनेन्द्रकुमार और डॉ० देवीशंकर अवस्थीने संसद्को उनके आतिथ्य और आदरके लिए धन्यवाद दिया।

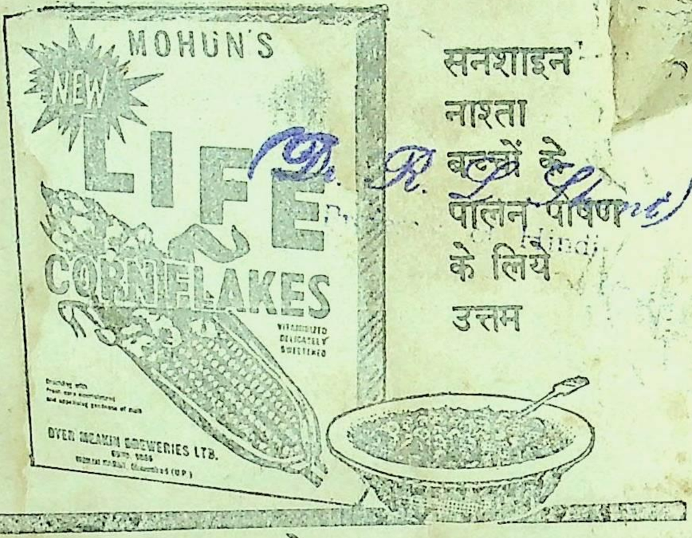

सनशाइन
नाश्ता
बच्चों के
पालन पोषण
के लिये
उत्तम

मोहन्ज़

न्यू लाइफ

कार्न फ्लेक्स

जब आप अपने बच्चों को मोहन्ज़ न्यू "लाइफ कार्न फ्लेक्स" का नाश्ता कराते हैं तो आप उन्हें विटामिन से भरपूर उनका मनपसन्द हलका नाश्ता देते हैं और माता पिता का स्नेह ही उनके जीवन के विकास के लिये आवश्यक है।

शताब्दी पुराना अनुभव विश्वास की गारन्टी है

डायर मीकिन ब्रुअरीज़ लिमिटेड

स्थापित १८५५

मोहन नगर, गाज़ियाबाद (यू०पी०)

IP-716